ISSN 0975-5217
वर्ष 2020

भैरवी

संगीत शोध पत्रिका

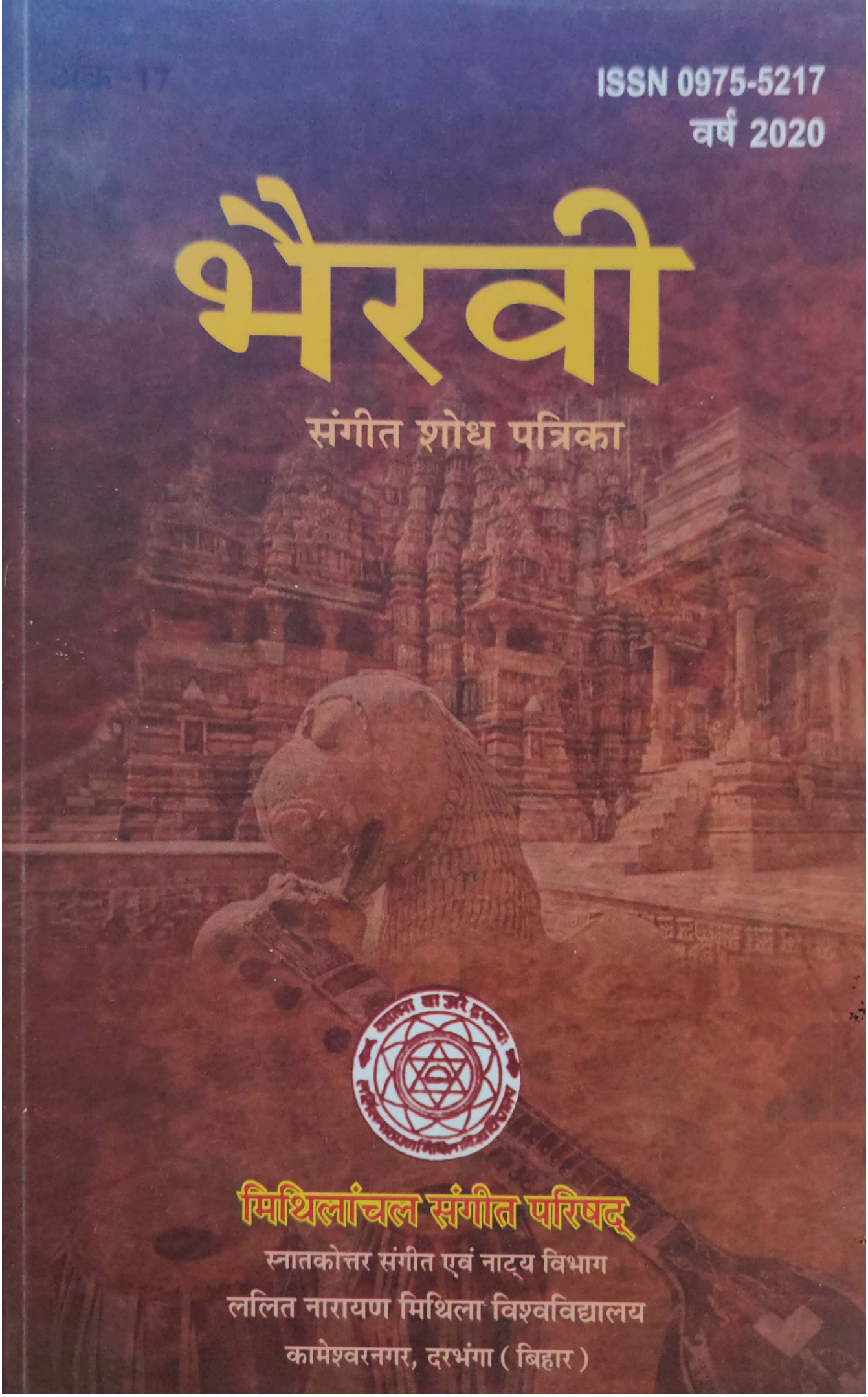

मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा (बिहार)

Scanned with OKEN Scanner

भैरवी

(संगीत शोध-पत्रिका)

(वर्ष 2020 अंक 17)

मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित कला संकाय
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004

Scanned with CamScanner

भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)

ISSN 0975-5217

वर्ष-2020, अंक : 17

प्रधान सम्पादक

प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

मूल्य

इस अंक का मूल्य : 400/- रुपये

व्यक्तियों के लिए :

वार्षिक : 800/- रुपये / त्रैवार्षिक 2400/- रुपये

पंचवार्षिक 4000/- रुपये / आजीवन : 15000/- रुपये

संस्थाओं के लिए :

वार्षिक : 850/- रुपये / त्रैवार्षिक 2500/- रुपये

पंचवार्षिक 4500/- रुपये / आजीवन : 16000/- रुपये

(केवल मनी आर्डर / बैंक / बैंक ड्राफ्ट से)

(दरभंगा से बाहर के बैंक में 40 रुपये अधिक जोड़ें)

''भैरवी'' विश्वविद्यालय अनुदान आयोग नई दिल्ली द्वारा अनुमोदित है। इसकी* Journal No. 44277 *है। साथ ही यह* Peer Reviewed Refereed Music Research Journal *है।

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।

प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।

समस्त विवाद दरभंगा न्यायालय के अन्तर्गत विचारणीय।

मुद्रक : छापक : विकास कंप्यूटर एंड प्रिंटर्स, ट्रोनिका सिटी, लोनी, गाज़ियाबाद-201 102

Scanned with CamScanner

प्रधान सम्पादक

प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण

प्रोफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

सम्पादक मंडल

प्रो. चमनलाल वर्मा

अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

प्रो. साहित्य कुमार नाहर

पूर्व विभागाध्यक्ष, संगीत एवं मंचकला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ. रामशंकर

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ. संतोष दत्तात्रयराव परचुरे

प्रवक्ता, संगीत विभाग, एस.पी.एच. महिला महाविद्यालय, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला विभाग, एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात

Scanned with CamScanner

जपात्कोटि गुणं ध्यानं ध्यानात् कोटि गुणं लय।
लयात्कोटि गुणं गानं गानात् परतरं नाहि।।

(जप से करोड़ों गुणा प्रभावी ध्यान है, ध्यान से करोड़ गुणा लयात्मकता प्रभावशाली है। लय प्रधान जप से करोड़ गुणा प्रभाव गान का है और साधना के लिए गान अर्थात् संगीत से उत्तम उपाय अन्य कोई नहीं।)

Scanned with CamScanner

'Music is the bridge of peace and love'

'संगीत दो देशों के बीच शान्ति और प्रेम का सेतु है।'

Scanned with CamScanner

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय, दरभंगा

Scanned with CamScanner

संपादक की कलम से ...

गायन को एक प्रकार का योगाभ्यास एवं वक्ष तथा कण्ठ संस्थान के समीपवर्ती अवयवों का महत्त्वपूर्ण व्यायाम माना गया है। भारतीय संगीत शास्त्र के आचार्यों के अनुसार गायन में आवाज नाभिकेन्द्र से उठती है ब्रह्मरंध्र तक पहुँचती है, तालु, कंठ, फुफ्फुस, हृदय, आमाशय, यकृत एवं आँतों को प्रभावित करती हुई-एकगीत चक्र बनाती हुई पुनःअपने उद्गम स्थान नाभि तक पहुँचती है। यह गतिचक्र अपने प्रभाव क्षेत्र के सभी अवयवों का न केवल व्यायाम प्रयोजन पूरा करती है, वरन् उनमें प्राणवायु का अतिरिक्त अनुदान भी देती है।

प्रतीत होता है कि आवाज कंठ, तालु, जिह्वा, ओष्ठ आदि के सम्मिलित संचालन से निकलती है पर यह बात मात्र वार्तालाप के बारे में ही सत्य है। गायन में एक विशेष प्रकार के खिचाव तनाव एवं उल्लास की जरूरत पड़ती है और वह एक स्नायु विद्युत के रूप नाभि केन्द्र से उद्भुत होती है। उस उद्भव के साथ न केवल स्वर संधान होता है वरन् षट्चक्रों के-उपत्यिकाओं के त्रिविध ग्रन्थियों के सुप्त संस्थान भी जागृत होते हैं। इस प्रकार गायन न केवल गायक के लिए भावोद्वोलित करके आनन्दित करता है वरन् आन्तरिक अवयवों का व्यायाम होते रहने से उसके स्वास्थ्य संरक्षण एवं आन्तरिक दिव्य शक्तियों की प्रसुप्त स्थिति को जागरण में परिवर्तित करने का लाभ भी मिलता है। शरीर और मन को उभयपक्षी शक्ति प्रदान करने की जिस सरलता और अधिकता भरी क्षमता गायन में है उतनी और किसी में नहीं। भावनात्मक उल्लास के प्रभाव में उसके मानसिक तनावों एवं अवसादों का भी निवारण होता है।

गायन की तीन लय हैं-द्रुत, विलम्बित, मध्यमाद्रुत अर्थात् तीव्र गति का गायन। इससे जीभ, कंठ वक्ष और हृदय का विशेष व्यायाम होता है। विलम्बित-अर्थात् स्वर को खींच कर गाना। इसका प्रभाव स्वर वाहिनी नलिकाओं को खोलता और सुदृढ़ बनाता है। मध्यम एवं सामान्य गायन की प्रतिक्रिया-स्नायु मण्डल नाड़ी संस्थान, हृदय एवं रक्त वाहनियों पर होती है। जिनके जो अवयव दुर्लभ हैं वे उसके अनुरूप लय चुनकर इस प्रकार से आन्तरिक अवयवों की सहज चिकित्सा कर सकते हैं।

हास्यरस, वीररस, श्रृंगाररस, शान्तरस आदि नौ रस गायन के माने गये हैं, उनके लिये विशेष राग रागनियाँ और विशेष समय का निर्देश किया गया है। समय राग और रस इनके सम्मिश्रण से एक विशेष प्रकार का ध्वनि प्रवाह उत्पन्न होता है और उससे अगणित मानसिक रोगों की चिकित्सा हो सकती है।

शरीर पाँच तत्वों से बना माना जाता है। आयुर्वेद शास्त्र के अनुसार उसकी गतिविधियाँ वात, पित्त कफ के अनुसार दबती, उभरती रहती हैं। बायोकैमिक चिकित्सा से बारह नमक शरीर के संचालक और आयोग्य के आधार हैं। होम्योपैथी में विष तत्वों की विवेचना की गई है। क्रोमापैथी (सूर्य चिकित्सा) में सत रंगों की न्यूनाधिकता स्वास्थ्य के सन्तुलन असन्तुलन का कारण है। स्वर शास्त्र के अनुसार काय-कलेवर में साप्त सूक्ष्म नाद उठते रहते है। इन्हें जगत में सप्त स्वरों से पहचाना जाता है। सूक्ष्म स्वरूप के दबने उभरने से जो शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य असन्तुलन उत्पन्न होता है उसे स्वर विज्ञान के आधार पर उपयुक्त गायनों के विधान से सन्तुलित किया जा सकता है।

Scanned with CamScanner

ऋतुओं के अनुरूप विशिष्ठ गायनों के विधान में भी ऐसे ही रहस्य छिपे पड़े है। बंसन्त ऋतु में बंसन्त राग, वर्षा में मेघ मल्हार आदि के लिये संकेत है। जिस प्रकार प्रातः काल प्रभात राग एवं भक्ति रस की उपयोगिता मानी गई है, उसी प्रकार दिन-रात के विभिन्न समयों में विभिन्न राग एवं रस उपयोगी माने गये है यह व्यवस्था ऐसे ही मनमानी नहीं है वरन् इसके पीछे शारीरिक एवं मानसिक आरोग्य के महत्त्वपूर्ण आधारों का समावेश है।

सामान्यतया गायन को एक आकर्षक, मनोरंजन मात्र माना जाता है। पर यदि उसके सम्बन्धों अधिक गहराई तक उतरा जाय तो प्रतीत होगा कि वह शारीरिक एवं मानसिक रोग निवारण एवं शक्ति सम्वर्धन का भी एक महत्वपूर्ण माध्यम है।

अंत में कहना चाहूंगी कि ''भैरवी'' संगीत शोध पत्रिका का सतरहवाँ अंक आप विद्वानों को सौंपते हुए हर्ष भी हो रहा है और भय भी लग रहा है। हर्ष इस बात का है कि देश के जाने-माने संगीतज्ञ, संगीत शास्त्री एवं उत्कृष्ट शोध छात्रों के शोध परक आलेख हम आपको दे पा रहे है, खुशी इस बात की है कि सभी संवेदनशील रचनाकारों का अपूर्व सहयोग हमें मिल रहा है। और भय? भय तो मानवीय कमजोरी है, कई-कई बार अपनी साधना से झंकृत कर देनेवाले फनकार भी यह दावा नहीं कर सकते कि वे हमेशा निश्चित होकर मंच पर प्रस्तुत होते हैं। एक तनाव, एक अनाम भय हर प्रस्तुति के पूर्व होना, संवेदनाशीलता का या यूं कहें कि शायद दायित्व बोध का परिचायक है। इसे यूं भी कह सकते हैं कि यह तनाव, यह भय ही प्रस्तुति को और अधिक सुन्दर और सफल बनाने में मददगार होता है। इसे ऊर्जा प्रदान करने के लिए आपकी प्रतिक्रिया की आवश्यकता है।

—प्रो. (डॉ.) पुष्पम नारायण
संपादक
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846004
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

Scanned with CamScanner

अनुक्रम

	संपादक की कलम से ...		7
1.	रागांग पद्धति का कौंस अंग : एक विचार	प्रो. सुधा सहगल	11
2.	ठुमरी में रस एवं भाव	डॉ. अमृता कर्मकार	16
3.	संगीत में सम्मेलन का महत्व	डॉ0 श्रुति होड़ा	25
4.	मिथिलांचल का लोकनाट्य जट-जटिन	डॉ. शीला झा	27
5.	निगुर्ण भक्ति परंपरा के रचनाकार	रामचन्द्र पासवान	30
6.	मंच दर्शन से संगीत में नवोन्मेष	अनादि मिश्रा	34
7.	बौद्ध वाङ्मय एवं स्तूपों में उद्भूत संगीत कला एक अवलोकन	डा0 नमिता यादव	38
8.	मिथिलांचल का पर्व सामा-चकेवा	डॉ0 सुरेन्द्र कुमार राम	42
9.	मिथिला की लोक-कला एवं संगीत में बाँस शिल्प	डॉ0 लालति कुमारी	46
10.	भारत रत्न एम0 एस0 सुब्बालक्ष्मी	रामचन्द्र पासवान	49
11.	संगीत का स्वर्णयुग : मध्यकाल	राजेश कुमार पंडित	51
12.	सैद्धान्तिक संगीत और नवोन्मेष की प्रक्रिया	अनादि मिश्रा	55
13.	वाग्गेयकार: संगीत रत्नाकर के संदर्भ में	चंद्रिका कुमारी	60
14.	गोविन्द गीतावली की सार्थकता	डॉ.रेखा कुमारी	62
15.	संगीत का बेतिया घराना	डॉ0 कामेश्वर कुमार	65
16.	मानव जीवन और प्रकृति पर संगीत का प्रभाव	उदय शंकर कुमार	68
17.	राग निरूपण के आवश्यक तत्व	डॉ. चन्देश्वर प्रसाद कुशवाहा	71
18.	तबले को फर्रूखाबाद घराना और बाज	संजीत कुमार	74
19.	पंडित दामोदर मिश्र की सांगीतिक यात्रा	राजन कुमार मिश्र	77
20.	संगीत आधारित दूरसंचार सेवा का अर्थशास्त्र	डॉ0 विजय कुमार झा	80
21.	राग भैरवी	राजीव कुमार	83
22.	हिन्दुस्तानी संगीत में गायन के प्रमुख 'घराने'	राधा गोविन्द मिश्र	85
23.	उपशास्त्रीय संगीत में भाव-संप्रेषण की तकनीक	रीना दत्त	89
24.	मैथिली संस्कार गीत	डॉ0 लालति कुमारी	94
25.	गर्भावस्था में संगीत का चिकित्सकीय महत्व	डॉ0 रुबी कुमारी	97

Scanned with CamScanner

26.	महाकवि विद्यापति एवं संत लक्ष्मीनाथ गोसांई के गीतों का सामाजिक एवं सांस्कृतिक सरोकार	डॉ रंजना कुमारी	100
27.	वैश्विक बाजारवाद में मैथिली संगीत	डॉ0 विजय कुमार झा	104
28.	वर्षाकालीन ऋतु गीतों का सांगीतिक सौंदर्य	चन्द्रिका कुमारी	107
29.	शास्त्रीय संगीत शिक्षण एवं रोजगार	डॉ0 संजीव कुमार	110
30.	संगीत व चिकित्सा	डॉ0 श्रीमती शालिनी शर्मा	112
31.	लोकधुन और राग	डॉ भवानी शारदे	115
32.	मातृत्व में प्रसवोपरान्त संगीत का महत्व	डॉ0 रुबी कुमारी	119
33.	लोकगीतों में सामाजिक चिंतन	खुशबू झा	121
34.	उपशास्त्रीय संगीत की प्रमुख गायन शैलीः- ठुमरी	मणिकान्त कुमार	125
35.	उपशास्त्रीय संगीत पर शास्त्रीय संगीत का प्रभाव	रूबी कुमारी	128
36.	आधुनिक कालीन समाज एवं संगीत	डॉ0 मधु कुमारी	130
37.	संगीत शिक्षा में कंठ साधना का महत्व	अर्चना कुमारी	133
38.	भारतीय संगीत का इतिहास -लेखन बोध	डॉ. अंकिता कुमारी	136
39.	अवधी लोक संगीत में लय विधान	प्रगति राठौर	138
40.	संगीत के शैक्षणिक सिद्धान्त	डॉ0 पुष्पवाणी	143
41.	The Role of Nature and its Music in Markandaya's Nectar in a Sieve	Dr. Hemant Kumar Thakur	149

Scanned with CamScanner

रागांग पद्धति का कौंस अंग : एक विचार

प्रो. सुधा सहगल

प्रस्तुत शोध पत्र रागांग पद्धति के प्रमुख अंगों में से कौस अंग पर आधारित है। अतः कौस अंग की उत्पति, विकास व क्रियात्मक पक्षों को समक्ष लाना इस शोध पत्र उद्देश्य है। रागांग पद्धति वस्तुतः राग के सैद्धन्तिक स्वरूप के साथ-साथ क्रियात्मक स्वरूप को भी स्पष्ट करती है अथवा यदि यूं कहें कि रागांग पद्धति सैद्धान्तिक स्वरूप के साथ साथ राग का क्रियात्मक स्वरूप अधिक स्पष्ट करती है, तो भी अनुचित न हो अस्तु यहाँ भी कौंस अंग के क्रियात्मक स्वरूप पर ही बल दिया जा रहा है यह शोध पत्र व्याख्यात्मक हे तथा इसमे निहित सभी विचार मेरी मौलिक हैं।

कौंस अंग पर दृष्टिपात करने से पूर्व रागांग पद्धति पर प्रथमतः देखना होगा। जैसा कि विदित है रागांग पद्धति का अभ्युदय थाट पद्धति में प्राप्य सीमितताओं के कारण हुआ। यह तो सत्य ही कि दस थाटों के अन्तर्गत हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के चार सौ चौरासी उनसे इतर रागों को स्थापित नहीं किया जा सकता अतः राग के विधि स्वरूप को आधार मानकर उनसे साम्य रखने वाले रागों का वर्गीकरण नारायण मोरेश्वर खरे द्वारा न्यायसंगत ही किया गया। जैसा कि नाम से स्पष्ट है राग ८ अंग रागांग अर्थात राग की अंग प्रधान विशेषताओं वाला अथवा ऐसी पद्धति जिस में रागोचित, राग प्रधान व रागोपयुक्त, अंगों का वर्णन हो या दिशानिर्देश हो। अतः राग के अंग तो स्पष्टतः रागांग पद्धति में स्वरूप-साम्य पर आधारित होते हैं। राग की साधारण प्रत्यभिज्ञा तो उसके लक्षणों जैसे प्रयुक्त स्वर, वादी-संवादी, आरोह-अवरोह जाति, न्यास आदि से हो जाती है किन्तु इन लक्षणों से राग का क्रियात्मक

संगीत विभाग, दयाल बाग विश्वविद्यालय, आगरा

सम्पूर्णत्व स्थापित नहीं होता। स्वरूप के स्थापित होने के लिए आवश्यक है कि राग चलन स्वर भेद स्वर का प्रमाण सौन्दर्यमूलक तत्व व उनकी प्रभावीकृत अवस्था स्पष्ट हो। ये सभी तत्व इतने प्रबल हैं कि किसी भी राग में उसके निकटतर रागों का आभास स्वाभाविक रूप से होने लगता है। अतः इन्हीं स्वरूप साम्यताओं का निचोड़ रागांग पद्धति है साथ ही साथ इसी निचोड़ का परिणाम एक "प्रतिनिधि राग' के रूप में हो जाता है। किसी भी राग में जब कोई ठोस प्रयोगधर्मी सम्भावनाएं उपस्थित रहती है, वही राग प्रतिनिधि राग की भांति स्थापित होता है जैसे कल्याण अंग हेतु राग यमन, सारंग अंग हेतु वृन्दावनी सारंग कान्हड़ा अंग हेतु दरबारी कन्हड़ा मल्हार अंग हेतु मियां मल्हार, बिहाग अंग हेतु बिहाग इत्यादि। इस प्रकार के कई प्रतिनिधि राग रागांग पद्धति में स्थापित है। इन प्रतिनिधि रागों में अनेक सम्भावनाओं के कारण इनका स्वरूप अत्यन्त समृद्ध होता है और यही स्वरूप प्रतिनिधि राग की विशेषताओं में परिवर्तित हो जाता है जैसे-

प्रतिनिधि राग की विशेषताएं:

स्वर-प्रयोग- इसके अन्तर्गत स्वर का शुद्ध कोमल व तीव्र स्वरूप आता है तथा राग स्वरूप साधारण रूप में स्पष्ट होने लगता है।

स्वर-भेद—इस विशेषता पर राग की विशिष्ट संरचना स्थापित होती है जैसे राग भैरव में कोमल ऋषभ व धवैत का अतिकोमल व आन्दोलित होना माना जाता है। दरबारी कान्हड़ा का कोमल गंधार, जैजवन्ती का कोमल गन्धार तथा कल्याण अंग के रागों जैसे कामोद व छायानट में किंचित कोमल निषाद का उपयोग होना आदि।

Scanned with CamScanner

स्वर-प्रमाण- स्वर का प्रमाण अर्थात किसी भी राग में स्वर किस प्रकार व कितनी मात्रा में अपेक्षित है, यह स्पष्ट करता है जैसे राग भैरव, तोड़ी व पूरिया के कोमल ऋषभ का स्वर प्रमाण रागों को विशिष्टता प्रदान करता है व उनके प्रतिनिधित्व का सूचक होता है।

सौन्दर्य मूलक तत्व- राग की इस विशेषता में मींड, कण मूर्की, खटका व गमक जैसे तत्त्वों का प्रयोग होता है तथा जिन स्वर-संगतियों में इनका प्रयोग होता है वे राग वाची विशेषताओं में गेय होती है जैसे ग म रे ऽऽ सा एवं ग म ध ऽऽ प से राग भैरव तथा

^{म}रे $^{रे}$म ^{म}र प, म प ^{म}नी ऽऽ म ऽऽ प ऽऽ नी ऽऽ ^{प}म ऽऽ से मियां मल्हार का स्पष्ट होना स्वाभाविक एवं स्पष्ट हो जाता है।

राग चलन- उपयुक्त्त विशेषताओं के आधार पर ही राग का चलन स्थापित हो जाता है जैसे दरबारी का कोमल गंधार मियां मल्हार के अतिरिक्त किसी और में दृष्टव्य नहीं होता या भैरव का आन्दोलित कोमल ऋषभ (सा की ओर हुआ) व कोमल धैवत (प की ओर झुका हुआ) उतने ही आन्दोलन व अतिकोमल स्वरूप में किसी और राग में नहीं प्रयुक्त होता। कोई एक विशेषता भैरव के प्रकारों में अवश्य दिखती है जैसे या तो आंदोलन होना या अतिकोमल होना किन्तु भैरव के सदृश नहीं होता। अतः भैरव के चलन में अनेक विशेषताओं को देखा जा सकता है।

उपर्युक्त सभी विशेषताओं के आधार पर ''प्रतिनिधि रागों'' की संरचना सम्भव होती है तथा उनमें यह गुण होता है कि वे अपनी संरचना में से कई रागों को जन्म दे सकें। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि रागांग वह प्रतिनिधि कारक है जो अपने में कई सम्भावनाओं को लेकर स्थित होता है तथा जिसमें रागांग रागों को उत्पन्न करने की विशिष्ट क्षमता होती है।

प्रमुख विचार: कौंस अंग

यह शोध पत्र कौंस अंग पर मुख्यतः आधारित है किन्तु इसके पार्श्व में रागांग पद्धति, रागांग राग, रागांग विशिष्टताओं व प्रतिनिधि रागों के विषय में पृष्ठभूमि के अन्तर्गत देना आवश्यक था जिससे वैचारिक उन्मूलन को व्यापक क्षेत्र प्राप्त हो सके तथा विद्यार्थियों व शोधार्थियों को भी तार्किक बिन्दु प्राप्त हो सकें।

कौंस अंग का प्रतिनिधि राग मालकौंस को माना गया है। कतिपय विद्वत्वर्ग चन्द्रकौंस को भी इस अंग का प्रतिनिधि राग मानते हैं। किन्तु चन्द्रकौंस स्वयं मालकौंस पर आलम्बित है अतः प्रतिनिधित्व के स्तर पर किंचित अक्षम ही प्रतीत होता है। अधिकांश विद्वत्वर्ग कौंस अंग हेतु माल्कौंस राग को ही प्रतिनिधि राग मानते है।

प्रतिनिधि राग : मालकौंस

राग मालकौंस हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में प्राचीन रागों में से एक माना गया है तथा इसके अभिधान- प्रसंग मालव- कौशिक या मालव कौशिक की भांति इसके स्थापित होने के प्रमाण देते है। मालकौंस, प्राचीन नामों का अपभ्रंश रूप ही समझना चाहिए। जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है कि सशक्त राग ही किसी विशिष्ट अंग के प्रतिनिधि राग की भांति स्थापित होते हैं अतः राग मालकौंस की विशेषताएं, जो इसके सैद्धान्तिक व क्रियात्मक रूप में समाहित हैं, स्पष्ट की जाएं-

राग मालकौंस-सैद्धान्तिक पक्ष :

सर्वप्रथम सैद्धान्तिक शब्द का स्पष्टीकरण आवश्यक हैं। सैद्धान्तिक अर्थात् सिद्धान्तवाला, सिद्धान्त प्रधान या सिद्धान्तोपयुक्त, अब यदि सिद्धान्त शब्द पर दृष्टि पात किया जाए तो ज्ञात होगा कि ऐसा संज्ञावाचक पु0ए0 वचन शब्द जो आचरण या व्यवहारगत नीति, विधि या नियम में कटिबद्धता को दर्शाए। यह सर्वविदित है जो कुछ भी 'नियमबद्ध'' है अथवा ''नितिबद्ध'' है वह आदेशात्मक तथा वही शास्त्रीय/ शास्त्रोक्त है। जहाँ कोई विचार नीतिगत या नियमगत हो जाता है वह शास्त्र में स्वाभाविक रूप से स्थान पा कर शास्त्रीय हो जाता है। सभी कलाओं, अध्ययन पद्धतियों में विचारों या प्रत्ययों के सैद्धान्तिक अथवा शास्त्रीय रूप दृष्टिगोचर होते है तथा संगीत कला के अन्तर्गत जो पूर्णरूपेण क्रियात्मक है तथापि कतिपय घटक शास्त्रीयन्मुख होने की

Scanned with CamScanner

आवश्यकता पर बल देते है जो नितान्त आवश्यक है।

अतः राग मालकौंस का सैद्धान्तिक अथवा शास्त्रीय पक्ष भी समक्ष लाना अत्यन्त आवश्यक है जिससे कि राग का प्राथमिक चिन्तन हो सके।

राग मालकौंस भैरवी थाटोत्पन्न राग है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक हे कि रागांग पद्धति के प्रतिनिधि राग थाट से तो अवश्य सम्बन्ध रखते हैं किन्तु यह सम्बन्ध कितना सातत्याधारित व प्रासंगिक है वह तो विश्लेषणोपरांत ही स्पष्ट हो सकता है। थाट से अतिरिक्त रागांग प्रतिनिधि राग में इतनी कांचिक सम्भावनाएं होती हैं कि थाट उनके समक्ष केवल परिचयात्मक दृष्टान्त की भांति दृष्टव्य होता रहता है। भैरवी थाट व राग शास्त्रीय संगीत जगत में प्रबल व प्रभावशाली रूप में उज्ज्वल है। इसके अन्तर्गत स्वरों के भेदानुसार असंख्य प्रयोग इसके क्रियात्मक स्वरूप को अवर्णनीय ही स्थापित करते हैं ऐसी स्थिति पताका कोमल स्वरों का पताका फहराता है। इससे निःसृत मालकौंस के प्रतिष्ठापन में ऋषम पंचम विहीन प्रकार कोमल स्वरों का ही स्वरूप हैं।

अतः राग मालकौंस का थाट भैरवी, सभी स्वर अर्थात ऋषम-पंचम होने से गंधार, धैवत व निषाद कोमल होते है। औड़व जाति प्रधान यह राग है। मध्य रात्रि इस का गायन समय है तथा कतिपय विद्वान रात्रि के दूसरे प्रहर को भी मानते है। मालकौंस का वादी-संवादी मध्यम-षड्ज हैं। न्यास के सन्दर्भ में यह एक ऐसा मधुर राग है जिसके लगभग प्रत्येक स्वर पर न्यास किया जाता है। ये सभी विशिष्टताएं लाक्षणिक ही है तथा "रिक्षान्तोयुक्त" है एवम् इन्ही के आधार राग का क्रियात्मक पक्ष विभिन्न रूपेण सबल होता है।

राग मालकौंस - क्रियात्मक पक्ष

राग-मालकौंस के क्रियात्मक पक्ष में सर्वप्रथम आरोह सा, ग, म ध नी, सां तथा अवरोह सां, नी ध, म ग म सा इस प्रकार व्यवहत जाता है। मुख्यांग की बात करें तो ध़ नी़ सा, मऽऽ, ग म ग, नी सा, ध़ नी़ सा, इस प्रकार प्रयोग में लाया जाता है।

जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है किसी भी राग का अंग में स्थापित हो जाना कतिपय विशिष्टताओं के कारण होता है जिसमें स्वर प्रयोग के अन्तर्गत विशिष्ट स्वर-संगतियों का भी प्रयोग किया जाता है। अतः मालकौंस सम्बन्धी समग्र क्रियात्मक विशिष्टताएं इस प्रकार हैं-

स्वर-प्रयोग - राग मालकौंस में ग, ध, नी कोमल व रे, पवर्जित होने से शुद्ध मध्यम का प्राधान्य हो जाता है जिसे इस प्रकार समझा जा सकता है-

साऽऽऽ, ध़ऽऽ नी़ऽऽ साऽऽऽ, नीऽऽ ध़ऽऽ नी़ऽ गऽ साऽऽ, ध़ऽ नी़ऽऽ साऽऽ मऽऽऽ, गऽऽ मऽऽ गऽऽ साऽऽ।

गंऽऽ मंऽऽ धऽऽ मऽऽ साऽऽ मऽऽ गऽऽ मऽऽ गऽऽ साऽऽऽ

मऽऽ धऽऽ गऽऽ मऽऽ साऽऽ गऽऽ नीऽऽ सा ऽऽऽ

ध ऽऽ नी ऽऽ सां ऽऽ मंऽ सांऽऽ नीऽ धऽमंऽऽगऽमऽऽगऽऽसा

यही स्वर-समूह राग की विशिष्ट स्वर संगतियों की भांति जाने जाते है। इन स्वरों के प्रयोग रागोचित रूप में प्रयुक्त होते हैं।

स्वर-भेद- राग मालकौंस में कोई विशेष स्वर-भेद नहीं होता अपितु राग का वक्र चलन इस का स्थान में न होकर आन्दोलन युक्त रहता है जैसे-

ग ऽऽम ऽऽ ग ऽ सा ऽऽऽ, ध़ ऽऽ नी़ ऽ साऽमऽऽमऽऽ मऽऽ ग ऽऽ सा। मऽऽध ऽऽ ग ऽऽ ध़ इत्यादि।

स्वर-प्रमाण- इस राग में क्यूंकि स्वर भेद विशेष न होकर चलनयुक्त रहता है अतः स्वर-प्रमाण अपनी वास्तविक स्थिति में हो रहते है।

सौन्दर्यमूलक तत्व- राग मालकौंस में सौन्दर्यमूलक तत्वों का प्रयोग बहुतायत से ही किया जाता है। मींड़ व कण का प्रयोग इस राग में अधिक होता है जैसे-

ग ऽऽ मऽऽ सा, मऽध ऽऽ ग मऽऽ,

म ऽऽ नी ऽ ध ऽ ग ऽऽ मऽऽऽ, नी ऽऽ सां ऽऽ ध ऽऽ नी ऽऽमध गऽऽम

^{म}गऽऽमऽऽ$^{सां}$गऽऽ, $^{सां}$ध़ऽ$^{नी}$नी़ऽऽसा इत्यादि

(म)ऽऽग, ^{म}(ध) ऽऽ मऽऽ, नी ऽ धऽऽ (म)

इस राग में सौन्दर्यमूलक तत्त्वों की बाहुलता के कारण यह राग कई अर्थों में विशिष्ट हो जाता है जैसे- गम्भीर प्रकृति, वक्रता, मध्य व मन्द्र का आधिक्य

Scanned with CamScanner

इत्यादि।

चलन- इस तत्त्व को यदि गहनता से देखा जाए तो निम्न कारक राग चलन में प्रयुक्त होते हुए दृष्टिगोचर होते है-

(1) विशिष्ट स्वर संगतियां
(2) वादी-संवादी प्रयोग
(3) न्यास-प्रयोग
(4) राग विशेष की अपनी कोई पहचान या कोई विक देश स्वर का प्रस्तुतिकरण

राग- चलन के ये कारक विशेष रूप से अंग-संरचना में योगदानकर्ता के रूप में कार्य करते हैं। अतः कौंस अंग की विशेषताओं को इस प्रकार उल्लिखित किया जा सकता है-

''कौंस अंग'' की विशेषताएं -

इस अंग का प्रतिनिधि राग मालकौंस है।

मींडयुक्त स्वर- प्रयोग, वक्र चलन, मन्द्र व मध्य सप्तक प्रधान गाम्भीर्ययुक्त स्वर-संयोजन इस अंग की विशेषताए है अथवा अन्य शब्दों में ऐसा कहें कि जो विशिष्टताएं मालकौंस की हैं वही कौंस अंग की भी हैं, तो अनुचित नहीं होगा।

कौंस अंग की विशिष्ट स्वर-संगतियाँ-

गऽमऽऽगऽऽसा, [मं]धऽऽभीऽसाऽऽ, [मं]गऽऽनीऽऽसा
साऽऽधऽऽनीऽऽसाऽऽ[मं]गऽऽमऽऽऽ
गऽमऽसाऽऽगऽऽनीऽऽसाऽऽ,[मं]गऽऽऽमऽऽऽ
मऽऽधऽगऽऽमऽऽसाऽऽगनीऽऽगसा
मचऽनीऽसांऽधऽनीऽऽमधऽऽगऽगुऽसाऽऽ

मध्यम पर न्यास कौंस अंग का महत्वपूर्ण प्रयोग है। आलाप के अन्तर्गत व अन्तिम ठहराव इसी पर होता है।

कौंस अंग जिन रागों में मिश्रित किया जाता है अथवा इस अंग की स्वर-संगतियों जिन रागों में प्रयुक्त होती है, वे मध्य सप्तक के पूर्वांग अथवा मन्द्र सप्तक प्रधान होती हैं।

जो राग कौंस अंग से गाए बजाए जाते हैं उनमें स्वयं मालकौंस, चन्द्रकौंस, मधुकौंस, जोगकौंस, कौसी कन्हड़ा कौंसी भैरव, कौंसीनट कौंसी बिलावत आते हैं। इन सभी रागों में मालकौंस प्रधान संगतियाँ पूर्वांग में ही केवल दृष्टिगोचर होती है। जिन रागों में पंचम प्रयुक्त होता है इन में भी कौंस अंग मध्य सप्तक के पूर्वांग में ही स्पष्ट झलकता है। कुछ ऐसे राग भी है जिन में मालकौंस की सम्पूर्ण संरचना में पूर्वांग या उत्तरांग में किसी राग का मिश्रण कर दिया गया है। ऐसी स्थिति में उन रागों में मालकौंस का नाम पहले रखकर राग निर्माण हो गया प्रतीत होता है जैसे मालकौंस बहार मालकौंस मल्हार, मालकौंस केदार आदि इन रागों में मालकौंस के सम्पूर्ण व्यक्तित्व में किंचित अन्य रागें को एक या दो प्रमुख स्वर संगतियों के मिश्रणों परांत निर्मित किया प्रतीत होता है जबकि जोग मधुकौंस, जोगकौंस जैसे रागों में कौंस अंग की प्रमुख स्वर संगतियां एक से लेकर तीन या चार तक स्वर भी दृष्टव्य होती हैं। जिन रागों में किसी अन्य राग के सम्पूर्ण ढ़ाचे में थोड़ा सा कौंस मिला दिया गया वे राग ''कौंसी'' यह नाम पा कर पीछे आने वाले राग की प्रमुख सत्ता से जुड़ गए जैसे कौंसी कान्हड़ा कौंसी भैरव, कौसी नट इत्यादि।

निष्कर्षतः कौंस अंग निम्न प्रकार से रागें में प्रयुक्त होता है-

कौंस अंग के मूल राग मालकौंस द्वारा जो स्वयं अनेक विशेषताओं का समूह है।

पंचम ऋषभ रहित रागों के पूर्वांग में कौंस अंग का होना जैसे चन्द्रकौंस। इस राग के उत्तरांग में केवल कोमल धैवत ही मालकौंस सदृश प्रयुक्त होता है और शुद्ध निषाद से तो यह राग बिल्कुल ही पृथक हो जाता है। पूर्वांग में सभी विशेषताएं कौंस की है।

पंचमयुक्त रागों में भी कौंस अंग पूर्वांग में ही स्पष्ट होता है जैसे मधुकौंस, जोगकौंस, जोग (खमाज थाट जन्म किन्तु अंग से व्यवहृत) में। इन रागों में कौंस की पूर्वांगात्क स्वर-संगतियों जैसे ग म ग सा, सा नी ग सा, ग नी सा, म ग नी सा, नी सा नी ग सा, ग नी ग सा को अन्य रागों में रख दिया गया जैसे जोग में गंधार का आरोहात्मक स्वरूप शुद्ध करके तिलंग के साथ मिश्रित किया गवा (वर्तमान में केवल कोमल निषाद युक्त) मधुकौंस में इन्हीं स्वर-संगतियों के साथ पंचम युक्त कर ऋषभ वर्जित करके तीव्र मध्यम सहित राग-संरचना की गई। इन रागों में धैवत का न होना या अन्य शब्दों में कहें तो उत्तरांग में केवल निषाद युक्त होने से राग-स्वरूप में कौंस अंग भली भांति चमकता है।

ऋषभ व पंचम युक्त रागों जैसे कौंसी भैरव

Scanned with CamScanner

कौंसी कान्हड़ा कौंसी बिलावल में कौंस अंग सां नी ध म (कौंसी कान्हड़ा कौंसी बिलावल तथा म ध नी ध म ध नी सां (यद्यपि पंचम युक्त तथापि म ध नी सां युक्त भी है) इस स्वर संगति कौंसी भैरव में प्रयुक्त होता है। यद्यपि इन रागों का अपना इतना वृहद क्षेत्र है कि कौंस अंग की स्वर-संगतियों के लिए अधिक संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि करना भी एक कारण हो सकता है अथवा जिज्ञासा/कौतुहलवश नवराग का निर्माण आनन्दप्रद होता है, वह भी दूसरा कारण हो सकता है।

जिन रागों में मालकौंस की संरचना में बहार, केदार मल्हार मिश्रित किये गए उन में इन रागों के नाम तो अवश्य संयुक्त किए गए किन्तु इनका निर्धारित स्वरूप अप्राप्त है। दो अथवा तीन स्वर-संगतियों के माध्यम से इन रागों में मालकौंस के साथ अन्य रागों की छाया मात्र लाते रहना इन रागों का उद्देश्य होता है।

कौंस अंग संयुक्त पूर्वांग प्रधान रागों में इस अंग की सभी विशिष्टताएं जैसे वक्र चलन, मींड-प्रयोग, गाम्भीर्य इत्यादि दृष्टव्य होती हैं। उत्तरांग में इन का प्रयोग लगभग नगण्य ही रहता है।

अंततः यह कहना समीचीन होगा कि हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की परम्परा में रागांग पद्धति द्वारा एक अंग विशेष रूप से विभिन्न सम्भावानमों के साथ उजागर होता है तथा अपने अस्तित्व में कई अन्य रागों की सन्तुलित, न्यायसंगत व नवीन रचनाएं करने में सक्षम होता है; कौंस अंग भी उन्हीं वृहद सम्भावनाजन्य व नवीन राग पोषित अंगों में से एक है।

Scanned with CamScanner

ठुमरी में रस एवं भाव

डॉ. अमृता कर्मकार

आनंद भाव संपूर्ण सृष्टि का सार है। तैत्तिरीयपनिषद ने कहा है कि सृष्टि, स्थिति तथा लय आनंद ब्रहम है। हम आनंद से ही उत्पन्न होने पर जीते हैं, आंनद में ही प्रविष्ट हो जाते हैं। यह आनंद उपजता कहाँ से है? यह बाहर से नहीं आता, हमारे अंतर की ही भावना है, यह और हृदय की भावनाओं की अंतिम परिणति है, जब रस के अखंड आंनद की अनुभूति में बदल जाती है, तब हम रसाभिव्यक्ति की पूर्णता में पहुँच जाते हैं। हम पीड़ा भी सहते है क्योंकि इसकी समाप्ति आनंद की शुरूआत है। रस की अनुभूति जीवन को नवरस्ता में अनवरस्ता का राग भरती है, मृत्यु के भय में मुक्ति का आनंद भरती है। जीबन तथा मृत्यु दोनों को उत्सव बनाती है। तैत्तिरीय का वाक्य हमेशा सुना जाता है। "रसो वै सः" रस ब्रहम है। रस ही मानव हृदय की प्रथम अभिलाषा है। लौकिक जीवन में इसकी अनुभूति की अखंडता उतनी संभव नहीं, जितनी कला के द्वारा, क्योंकि कला अलौकिक आनंद को सृजित कर रस को ब्रहमानंद की अनुभूति में परिवर्तित करती है। पंडित राज जगन्नाथ के अनुसार रस आनंद रूप है, अखंड है, स्वयं संवेद्य है, अनिर्वचनीय है और चित्त है।' कला का प्रथम और अंतिम लक्ष्य रस है। एक कलाकार द्वारा उजाला रस संपूर्ण समाज को, जड़ चेतन सभी को सिक्त कर जाता है। रस हमारी संवेदनशीलता से जुड़ा रहता है, रस की अनुभूति हमें जीवन के प्रत्येक सौंदर्य पक्ष से जोड़ती है, रस भोज नहीं आनंद है, यह कभी पश्चाप, ग्लानि या दुःख का कारण नहीं, होता, दैनिक जीवन में भोग से बच पाना मुश्किल है। इस भोग से बच पाने तथा वासना से ऊपर उठकर केवल अखंड आनंद की अनुभूति प्राप्ति के लिए ही, कला के गूढ़ रहस्य उजागर किये गये हैं। रस के जीवन तथा कला दोनों में सत्यम् शिवम् सुंदरम् की भावना को ही स्वीकार किया है। कला में वासना का शमन आवश्यक है, अविचलित भाव वासना को उद्दीप्त कर देते हैं, यहाँ पूर्ण सतर्कता की आवश्यकता है, वासना से ऊपर उठकर ही कला, रस सिद्धि के पश्चात् चाहे वह नौ रसों में से कोई भी रस हो, अंततः समस्त भावों को संपूर्णता से जी लेने के पश्चात् भी अपूर्व शांति महसूस करती है, यही कला के रस की सार्थकता है,[1] कला का मूल रस है, जहाँ हमारा अस्तित्व रस के प्रत्येक अनुभव को जीते हुए भी रस में ही समाहित हो जाता है, यहाँ सुख-दुख दोनों एकाकार हो जाते हैं, चंचल चित्त एकाग्र हो योगी की समाधिस्थ दशा प्राप्त कर लेता है।

रस शब्द का प्रयोग सांख्य, आयुर्वेद, वनस्पति, दर्शन, व्याकरण, वैद्यक, कला एवं काव्य शास्त्र में प्राचीन काल से होता रहा है। कला सौंदर्य की अनुभूति से जुड़ी रहती है, एवं कला का सौंदर्य आत्म साक्षात्कार का यानि इन्द्रिय की सतह से ऊपर उठा हुआ है, इसी वजह से कला का वासना रहित सौंदर्य योग रहित आंनद की रसानुभूति का कारक है। इस आत्म साक्षात्कार की झलक कलाकार को संपूर्ण एकाग्रता तथा ध्यान बल से मिल पाती है, एकाग्रता से ही बाह्य अभिव्यक्ति का सौंदर्य निर्धारित होता है। पूर्ण कलात्मक सृटि 'रस' की पूर्णता पर ही निर्भर करती है एवं इसके लिए कलाकार को अंतर्ज्ञान की आवश्यकता होती है। अंतर्ज्ञान से उपजा प्रकाश

पूर्व शोध छात्रा, विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग, लखनऊ(उ0प्र0), दरभंगा

Scanned with CamScanner

ही अंत में छिपे सूक्ष्म भावों को देख पाता है एवं भाव रस में समाहित हो अपनी अनुभूति की अंतिम चरम सीमा पा जाते है तथा सौंदर्य का आंनद रस में जगमगा उठता है। रस का सौंदर्य इन्द्रिय सौंदर्य तथा सुख की बात नहीं करता। ठुमरी के लिए इन्द्रिय धरातल को सौंदर्य तथा सुख प्रमुख है, और श्रृंगार रस का ही विशेष औचित्य है, जो कि वासना का कारक भी हो सकता है अतः ठुमरी रस अभिव्यक्ति के लिए सतर्क अभिनय की आवश्यकता है। यहाँ सौंदर्य बोध शास्त्र के वैज्ञानिक पहलू की आवश्यकता है, अर्थात् ठुमरी में रस प्रतीति के लिए मनोविज्ञान, शरीर विज्ञान तथा बौद्धिक पूर्णता की भी आवश्यकता है, अर्थात् यह केवल अभिनय की शास्त्रीय पूर्णता, व्याकरण के सिद्धांत तथा शब्दों के भाव सौंदर्य निरूपण पर ही संभव नहीं है। ठुमरी के सौंदर्य बोध शास्त्र में तन-मन को एकाकार कर योगी की समाधिस्थ अवस्था तक पहुँचने की आवश्यकता है, तभी शरीर की सीमा को पार कर आत्मा की राह पकड़ी जा सकती हैं। यहाँ तभी सौंदर्य भी अनुभूति द्वारा महसूस की जा सकती है। डॉक्टर आनंद प्रसाद दीक्षित का मत है कि "योग सिद्धांत में साधना के द्वार व्यक्ति की पवित्रता स्वीकार की गयी है, इसी प्रकार कला साधना के द्वारा कलाकार की दक्षता की भी की गयी है।"[2] सौंदर्य, आनंद तथा रस तीनों की अभिव्यक्ति में दक्षता की आवश्यकता है। ठुमरी सुन्दरता के जितने अधिक निकट एवं आत्मीय होती है, उतनी ही आत्मा के करीब पहुँचती है, तथा उतना ही अधिक पवित्र तथा स्वच्छ दृष्टिगोचर होता है। यह पवित्रता ही रस को भोग से दूर कर इन्द्रिय आकर्षण में लिप्त होने नहीं देती, बल्कि चित्त वृत्ति को शांत कर, अखंड आनंद देती है। यहाँ कला मर्मज्ञ विदुषी प्रेमलता शर्मा ने रस सिद्धांत के लिए सत्य ही कला है कि "रस को अगर भोग कहें तो हम जीवन में जिसे भोग कहते हैं, जो रजोगुण पर टिका है, वैसे भोग की बात रस सिद्धांत नहीं करता है। यह सत्य उद्रेक का क्षण होता है जो प्रकाशमय है, आनंदमय है, जिसमें न अंधकार है, न अनावश्यक विचलित भाव, वह रजोगुण का धर्म है।"[5] अर्थात् रस चित्तवृत्ति को शांत कर अखंड शांन्ति तो देता है किन्तु इसकी समाधि रस अवस्था जीवन से दूर नहीं ले जाती, जीवन में ही रहकर, निर्लिप्त भाव से आनंद का भोग कराती है। यह पलायन में नहीं ले जाती, हम चाहकर भी रस से बच नहीं सकते।

कथक के परिप्रेक्ष्य में रसाभिव्यक्ति एवं रसों का आंकलन करने से पूर्ण, रस सिद्धि की शास्त्रीय व्याख्या जरूरी है, क्योंकि 'रस सूत्र' समस्त कला भाषा का प्रथम व्याकरण है, एवं इसकी निष्पत्ति के सिद्धांत सभी कलाओं के सिद्धांत है। यह अवश्य है कि सभी कलाओं की अपनी-अपनी संवेगीय अनुभूति है, जिनकी अभिव्यंजना के, या जिनको अभिव्यक्ति करने की अपनी-अपनी कला तात्विक इकाइयाँ है, सभी कलाओं की अपनी-अपनी अनुभूति है, जिनके माध्यम से कलाओं ने रस की संपूर्णता तथा आंनद को जीने का प्रयास किया है, नौ रसों के गूढ़ रहस्य को ढूंढने का प्रयास किया है, शायद इसी वजह से आचार्य भरत ने कहा है-

"नहि रसाद ते काश्चिदर्थ प्रवर्तते।"

अर्थात् रस के बिना कुछ भी संभव नहीं, रस का ऐसा कौन-सा सामर्थ्य है, ऐसी क्या महत्ता है, जिसने समस्त कलाओं में अधिकार जमा रखा है, एवं जिसकी वजह से कलाओं को अपने-अपने सौंदर्यबोध को विकसित करने का सामर्थ्य मिल पाता है? आचार्य भरत का रस सूत्र इस सामर्थ्य को ही सिद्ध करता है-

विभावानुभाव व्याभिचारि संयोगाद्रस निष्पतिः

रस सूत्र के अनुसार विभाव, अनुभाव तथा व्याभिचारी भावों से रस की निष्पत्ति होती है। इस संपूर्ण प्रक्रिया में आलंबन, उद्दीपन विभाव रस के बाह्य कारण हैं, ये दोनों रस सूत्र का प्रथम घटक विभाव के प्रकार है। जब किसी वस्तु या व्यक्ति को देखकर मन में भाव उत्पन्न होता है, वह वस्तु ही आलंबन विभाव है, एवं जिस व्यक्ति के मन में उत्पन्न होता है वह व्यक्ति आश्रय होता है। उद्दीपन विभाव उन कारणों को कहा जाता है, जो भावों को उद्दीप्त करते हैं। इसके पश्चात् दूसरा घटक अनुभाव आता है। अनुभाव बाह्य अभिव्यक्ति है, इसमें भाव उत्पन्न होने के पश्चात् आश्रय चेष्टाएँ करता है। अनुभाव द्वारा ही आंतरिक भावों की बाह्य सूचना

Scanned with CamScanner

दी जाती है, यह शरीर के विभिन्न अंगों तथा उपांगों की चेष्टाएँ हैं। तीसरा घटक है व्याभिचारी भाव अथवा संचारी भाव है, कई रूपों में अभिव्यक्त होते हैं तथा रसों को पुष्ट करते हैं, ये स्थायी भावों को रसों तक ले जाते हैं। इनकी क्षणिक अभिव्यक्ति भी स्थायी असर डालकर ही विलुप्त होती है। विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव तीनों स्थायी भाव के आश्रित होकर ही कार्य करते हैं। स्थायी भाव प्रस्तुत रूप से हमेशा हृदय में विद्यमान रहते हैं, एवं ये रस अनुभूति के आंतरिक घटक होते है। ये विभाव, अनुभाव के द्वारा परिपुष्ट हो बाह्य अभिव्यक्त हो पाते हैं, अन्यत्र ये केवल प्रसुप्त संस्कार ही रह जाते हैं। कलाकार तथा सहृदय दोनों ही स्थायी भावों की परिपक्वता से आनंद तथा सौंदर्य अनुभूति प्राप्त करते हैं। स्थायी भाव के आठ प्रकार माने गये हैं। जब ये आठ अनुकूल विभावादि को प्राप्त करते हैं, तब तदनुरूप व्यक्त होकर विभिन्न आठ रसों की सृष्टि करते हैं। आचार्य भरत ने नौ रसों के लिए नौ स्थायी भाव बताएँ हैं।

ठुमरी ने रस निष्पत्तिः के सूत्रों को ही अपनी प्रस्तुति पक्ष के आलेखन का आधार बनाया है, और ठुमरी के आलेखन का माध्यम आंगिक, वाचिक, सात्विक एवं आहार्य अभिनय का शास्त्रबद्ध सौंदर्य ही है। अभिनय में रस का महत्वपूर्ण स्थान है, रस इन चारों अभिनयों का सार है। रस ठुमरी की भौतिक उत्तेजना ही नहीं, आत्मिक शांति का आधार भी है। ठुमरी के सौंदर्यात्मक आंनद में काव्य एवं ध्वनि का अर्थात् प्रस्तुति पक्ष के अर्थहीन का ध्वन्यात्मक सौंदर्य एवं प्रस्तुति पक्ष के अर्थपूर्ण शब्दों का भावपूर्ण सौंदर्य सज्जा है और दोनों ही "रसो वै सः" रस ही ब्रहम है, की उपनिषदीय वाणी को मुखरित करते हैं।

शब्द ब्रहम है। ठुमरी ने ध्वनि को भी अपनी प्रस्तुति का आधार बनाया है। ठुमरी की व्याकरणीय ध्वनि के क्रम तथा मेल में निमग्न कर देने वाली सौंदर्यानुभूति होती है, जो कलाकार एवं दर्शक दोनों को आत्म विभोर कर देती है, ध्वनि एवं लय की भाँति ठुमरी की लयात्मक ध्वनि, ब्रहम की लय से जुड़ जाती है। ठुमरी रचना के आकार एवं दैहिक लावण्य की प्रत्यक्ष सुन्दरता लय तथा ध्वनि के सुरीलेपन से सुनी तथा महसूस की जाती है।

ठुमरी में भावों का संपूर्ण निरूपण आंगिक एवं सात्विक अभिनय कथक के माध्यम से बखूबी किया जाता है एवं रस की प्रतीति की जाती है। वस्तुतः यहाँ हृदय में अवस्थित स्थायी भावों को विभाव, अनुभाव तथा व्याभिचारी भावों के अभिनय द्वारा परिपुष्ट कर रस की अंतिम सुखद अनुभूति में परिणत किया जाता है। यहाँ रस की स्थिति में पहुँचने से पूर्व भावों के सौंदर्य की पूर्ण वैज्ञानिक ढंग से प्रस्तुति की जाती है। ठुमरी ने यहाँ भावों की पूर्ण मनोविज्ञान तथा कथक के लिए शरीर विज्ञान की दृष्टि से समझा है, फलतः रस की भोग से ऊपर उठकर प्रतीति संभव हो पायी है। ठुमरी ने मानव मन के सूक्ष्म विश्लेषण के साथ मानवीय संवेगों, प्रवृतियों तथा क्षणिक अनुभूतियों का विश्लेषण की है। ठुमरी कलाकार रस तक यूँ ही नहीं पहुँच जाता, उसे भावों को आत्मसात करना पड़ता है। कलाकार भावों की निष्पत्ति कर स्वयं अपने तथा प्रेक्षक के हृदय में रस का संचार करता है। ठुमरी के रचनाओं द्वारा रस प्रतीति का हेतु सत्वोद्रेक ही प्रथम तथा माली है। ठुमरी का अभिनय कथक के कलाकारों के अभिनय बाह्य धरातल में सजता काव्यों का भाव ही सौंदर्य आत्मपरक हो अंतर्मुख होता है यह सत्वोद्रेक ही रस के आंनद का पर्याय है। रजोगुण एवं तमोगुण को पार कर जब ज्ञान अर्थात् विशुद्ध सत्व की अवस्था में पहुँच जाता है तब रस के विशुद्ध आनंद की प्रतीति होती है। ठुमरी की कथक द्वारा प्रस्तुति में यह प्रतीति इन्द्रिय सौंदर्य से परिपूर्ण धरातल पर दृश्य तथा श्रव्य दोनों के सौंदर्यात्मक आंनद द्वारा संभव है। आहार्य अभिनय की विशिष्ट सज्जा ठुमरी में कथक के माध्यम से नृत्त एवं नृत्य दोनों पक्षों के अभिनय में रस निष्पत्ति के अनुभाव सूत्र बनकर जुड़ती है एवं कथक की यह शास्त्र बद्ध सज्जा भावों को कथक शैली में समाविष्ट कर कथक के द्वारा ठुमरी-रस प्रतीति का माध्यम बनती है। यहाँ विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव कथक के आहार्य अभिनय की उज्ज्वल आभा से दीप्त हो उठते हैं एवं रस का अपूर्व आनंद भी इस सौंदर्य से जगमगा उठता है और ठुमरी धन्य हो जाती है। इस प्रकार ठुमरी के लिए सज्जित कथक नर्तक (विभाव) संपूर्ण आंतरिक

Scanned with CamScanner

एवं बाह्य मानवीय सौंदर्य का उदात्त भाव लिए सहृदय के समक्ष जब आता है, तब नृत्यमय आनंद की रस सृष्टि प्रथम दर्शन में ही हो जाती है। पहले आहार्य अभिनय द्वारा ही नर्तक प्रेक्षकों से तादात्म्य स्थापित कर उन्हें अपनी कला के लिए एकाग्र मनः स्थिति प्रदान कर ठुमरी को अपनी नृत्य की भावभूमि से साधारणीकरण करता है तथा ठुमरी के प्रति लगाव उत्पन्न होता है, एवं रस की प्रतीति तक भी पहुँचा जा सकता है, कलाकार के साथ दर्शक जब तक रचना से एकाग्र नहीं होगा, रस के लिए भी एकाग्र नहीं हो पायेगा। मंच पर हर क्षण नवीनता लिए देह का अभिनय पूर्व रचित की पुन रचना करता है, उस समय कुछ नया भी रच जाता है। यह पूर्व में सोचा हुआ तथा अभ्यास किया हुआ भी कुछ रचता है एवं कुछ नयी उद्भावना भी कर बैठता है। यह कथक का रस ही है जो ठुमरी को बार-बार रचने पर भी रसहीन नहीं होने देता। अनुभावों के रूप में यहाँ आंगिक अभिनय का शास्त्रीय सौंदर्य से पूर्ण निरूपण होता है, मुद्रा, प्रतीकों, कटाक्ष, विक्षेप, हाव, भाव, हेला, शोभा, माधुर्य, विलास से दीप्त हो देह की उज्ज्वल आभा निर्धूम दीपशिखा-सी जगमगाती है।

ठुमरी की बंदिशें कथक में अंग विन्यास के चमत्कृत रूप तथा लयकारी के साथ हस्त अभिनय एवं पदाभिनय का कलात्मक सौंदर्य लिए, लय की रेखाओं के साथ लहराती संपूर्ण देह, करण एवं अंगहार की श्रृंखलाओं की ही भाँति कोई न कोई मधुर भावबोध छोड़ ही जाती है, मन रस की अखंड आनंद अनुभूति से कर उठता है। यहाँ लय की पराकाष्ठा पर, विकट लयकारियों के गणित को सिद्ध करते हुए , आंगिक अभिनय का सौंदर्य, जरा भी विचलित हुए बिना जब अपने व्याकरणीय सिद्धांतों को सिद्ध करता है, तब यह सब कुछ आनंद के साथ चमत्कृत भी करता है। ठुमरी की रचनाओं में कथक का तीव्र भ्रमरी वेग जब एकाएक सम पर देह को स्थिर करता है तब कलात्मक भंगिना के साथ लय की पूर्णता से एकाएक लगता है, मानो चाँद-सितारों से भरा संपूर्ण ब्रहमाण्ड देह के सौंदर्य में समा थम गया हो। इसे देह, बुद्धि एवं अभिनय का मिलाजुला अद्भुत चमत्कार की कहा जायगा, जहाँ अद्भुत रस ही आनंद की सृष्टि करता है। अपनी किताब 'रस सिद्धांत के मूल, शाखा, पल्लव एवं पतझड़े में सुश्री प्रेमलता शर्मा की व्याख्या यहाँ समीचीन है कि "रस में सार है, चमत्कार है, जिसकी सर्वत्र अनुभूति होती है, इसलिए चमत्कार का सारत्व होने से उद्भुत रस सर्वत्र है, फलतः कृतिनारायण ने अद्भुत को ही रस कहा है।"[5] ठुमरी रचना के लिए प्रयुक्त कथक के नृत्त पक्ष अद्भुत रस को सिद्ध करता है, वहीं वह ध्वन्यालोक में ठुमरी के शब्दों का आंनद वर्धन दृष्टान्त को भी पूर्ण करता है। उन्होंने वीणा का दृष्टान्त दिया है कि ध्वन्यालोक में सब कुछ चाहे वह वर्ण संघटना हो, चाहे अलंकार ध्वनि हो या वास्तु ध्वनि, सबका मूल उद्देश्य एक प्रकार से रस को बनाकर रख दिया।

'रस भाव व्यंजनादि युक्त नृत्याभितीर्यते'[6] को परिभाषित करने वाला ठुमरी का कथक प्रयोग दूसरा सशक्त पक्ष है। यहां रस सूत्र के सभी उपकरण विभाव, अनुभाव, संचारी आदि का निरूपण है। 'भावाश्रयं नृत्यं' यह आचार्यों द्वारा निर्देशित नृत्य को भावों के पूर्ण आश्रित बनाता है। वर्णों के संपूर्ण सौंदर्य का निरूपण ठुमरी का कथक के माध्यम से शास्त्रीय, विधा के अनुरूप, आंगिक, वाचिक, सात्विक एवं आहार्य अभिनय द्वारा किया जाता है, एवं कथक की शास्त्रीय विधा द्वारा रसाभिव्यक्ति एवं रस का अखंड आनंद लिया जाता है। यहां विभाव, अनुभाव एवं संचारी भाव भी कथक के अनुरूप ढ़लते हैं तथा इन ठुमरियों को भी कथक के शास्त्रीय नियमों का अनुशासन पालन करना होता है, किन्तु विधा कोई भी रस का आनंद अपनी चरम अभिव्यक्ति में केवल विशुद्ध आनंद होता है, यहीं यह आंनद कथक, उसकी विषय वस्तु उसके शास्त्रीय निरूपण से ऊपर उठ जाता है। नाट्यों में रसों की अभिव्यक्ति नृत्त में ताल लय की संगति किन्तु नृत्य में रस भावों के साथ ही व्यंजना का भी प्रयोग किया जाता है, इसी दृष्टि से नृत्य का अभिनय कला में विशेष स्थान है।

ठुमरी में कथक प्रयोग नृत्य की इस विशेषता से मंडित है एवं भावों की पूर्ण अभिनयात्मक प्रस्तुति कर रस की प्रतीति कराती है। आंगिक एवं सात्विक अभिनय की प्रमुखता से ही कथक अपने भावों की शास्त्रीय विधा द्वारा प्रस्तुति पूर्णकर रस के

Scanned with CamScanner

अनुभूतिदायक चरमोत्कर्ष आनंद की प्राप्ति कराता है। कथक की रस निष्पत्ति सात्विक भावों के ही मुख्य रूप से आश्रित है। आचार्य अभिनव गुप्त ने अभिनय भारती में लिखा है कि "जिसे अभिनय कहते है वह तो वस्तुतः सात्विक अभिनय ही है न कि आंगिक, वाचिक एवं आहार्य।"[7]

ठुमरी में कथक प्रयोग अनुभाव आंगिक अभिनय के सौंदर्य का बाह्य निरूपण तो करता ही है किन्तु कथक के भाव इस बाह्य अभिव्यक्ति पर ही रूक नहीं जाते, वे सात्विक अभिनय से अनुभावित हो स्थायी भावों की अर्थात् रस के अभ्यन्तर कारणों से ही रस निष्पत्ति करते हैं। कविराज विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में सात्विक भावों का लक्षण करते हुए लिखा है कि सत्व के उद्रेक से उत्पन्न जो मनोविकार है उन्हें ही सात्विक भाव कहा जाता है।[8] सत्व अंतः करण का एक धर्म विशेष है; जिसके कारण सामाजिक के हृदय में वासना रूप में विद्यमान इत्यादि स्थायी भावों का उद्बोधन होता है। ये सात्विक भाव अनुभावों तथा भावों से सर्वथा भिन्न मनोविकार हैं। यही कारण है कि ठुमरी की प्रस्तुति में कथक अपनी भाव प्रस्तुति 'बैठकी भाव' द्वारा भी पूर्णता से कर पाता है। यहाँ अनुभावों की आंगिक आदि चेष्टाओं की बाह्य आवश्यकता नहीं रहती, यहाँ केवल एकाग्रता से परिपूर्ण स्थिति होती है। इसी वजह से मुद्राओं तथा आंगिक अभिनय का भाव प्रस्तुति कम ही उपयोग होता है। नाट्यशास्त्र में कहा गया है कि मन की एकाग्रता से सत्त्व की निष्पत्ति होती है।

ठुमरी के माध्यम से कथक अपनी रसाभिव्यक्ति में जहां तन के कलात्मक व्यापार को बिखेरता है, वहीं चरम बिन्दु पर समेट भी लेता है एवं मन को केन्द्र बना लेता है। वहीं हृदय के सत्व पर आकर उसमें ही पूर्ण समा जाता है और तभी रस इन्द्रिय धरातल से ऊपर उठ अतीन्द्रिय अनुभव का विषय बन जाता है। अभिनव गुप्त के अनुसार भावों में रजस् एवं तमस् की प्रधानता है, ये वासना रूप में विद्यमान रहते हैं। कथक के इन्द्रिय धरातल का अनुभाव भौतिक उत्तेजना का कारण तो होता ही है, किन्तु यह भावों को इन्द्रिय तथा भौतिक स्तर पर सजाकर खास् एवं तमस् के प्रारूप को जीते हुए धीरे-धीरे सात्विक भाव में केंन्द्रित हो रस की प्रधानता लिए सत्व में ले जाता है। यही कारण है कि ठुमरी का श्रृंगार भाव दैहिक स्तर को भोगते हुए, श्रृंगार की उत्तेजना को महसूस करते हुए, वहाँ से निकल भी जाता है एवं शांत रस की समाधिस्थ अवस्था को पाकर आध्यात्म की चैतन्यता को महसूस करता है। रस भोग नहीं है, अपितु अखंड ब्रह्मानंद है, इसे कथक अपनी रस की परिपूर्णता में साबित कर देता है।

मनुष्य के शरीर में सप्त धातुओं की स्थिरता तथा नवीनता के विज्ञान को रसायन तथा मनुष्य मन में भावों के संवेग एवं आवेग को रस प्रक्रिया कहा गया है। यह दार्शनिक पुरूष का भौतिक प्रतिरूप है। रस के इस तरह आयुर्वेदिक एवं मनोदार्शनिक आयाम उजागर हो उठता है।"[9] इस मनोदार्शनिक आयाम को ही ठुमरी ने शरीर तथा मन का केन्द्र बनाया है। ठुमरी का प्रयोग कथक के लिए विभाव के रूप में नर्तक है, किन्तु उसे भाव पक्ष की प्रस्तुति में शास्त्रीय विषय वस्तु, कथानकों एवं विभिन्न नायक-नायिकाओं के आलंबन एवं उद्दीपन विभाव से गुजरना पड़ता है। इस समस्त परिस्थितियों से पूर्ण तादात्म्य हो नर्तक भावों को मनोविज्ञान, शरीर विज्ञान एवं बौद्धिक पूर्णता के द्वारा समझकर अनुभावों के लिए जहाँ आंगिक अभिनय की देह गतियों, नेत्र, मुद्रा, प्रतीक, बिम्ब के लय तथा ताल के साथ सतरंग सलोने रिश्ते बनते है। आचार्य नंदिकेश्वर रचित अभिनय दर्पण के आंगिक अभिनय का यहाँ शास्त्रीय निरूपण होता है। संयुक्त असंयुक्त हस्त, मुद्राएँ, ग्रीवाभेद, दृष्टिभेद, भृकुटि भेद, शिरोभेद, पाद गतियाँ, भंगिमा भेद एवं मुखराग आदि का प्रयोग किया जाता है। ठुमरी में इसके अतिरिक्त सहज मानवीय संवेदनाओं का सहज सामान्य अभिव्यक्तियाँ भी है। यहाँ मुद्राओं का जटिल प्रयोग कम है एवं सामान्य जीवन की मुद्राएँ तथा देहगत संचालन अधिक है। इस माने में कथक आचार्य भरत के मत का प्रतिपादन करता है। भरत ने विभावों तथा अनुभावों को लोक प्रसिद्ध माना है, क्योंकि वे मानव स्वभाव के अंग हैं। विज्ञजनों का कहना है कि विभाव तथा अनुभाव लोक प्रवृत्ति के अनुसार होते हैं, लोक जैसा व्यवहार करता है, वे तदनरूप उनका अनुकरण करते हैं।[10] कथक की

Scanned with CamScanner

विषय वस्तु में काव्य, कवित्त, दोहे, लोक, ठुमरी, भजन, नायिका भेद आदि का निरूपण किया जाता है। यहाँ ठुमरी बद्ध गीतों के द्वारा वाचिक अभिनय का प्रयोग किया जाता है। स्वयं नर्तक यहाँ वाचक नहीं हैं, किन्तु वाचन कलाकार के हाव-भाव तथा हृदय के अनुरूप पार्श्व से उन्हीं के लिए किया जाता है। ठुमरी की लय बद्धता एवं स्वर माधुर्य भाव को गहरायी देते हैं। ठुमरी में यूं श्रृंगार परक रचनाओं की प्रधानता है, किन्तु यह श्रृंगार अपनी पराकाष्ठा पर भक्ति की अनुभूति में रस-सिक्त करता है। ठुमरी ने फिर भी कथक के माध्यम से श्रृंगार भाव को संपूर्णता से जिया है एवं श्रृंगार रस की नैतिकता से आबद्ध इन्द्रिय सौंदर्य से परिपूर्ण रचनात्मक अभिव्यक्ति भी दी है। कौशिकी वृत्ति को ठुमरी में कथक के रस ने पूर्ण अभिव्यक्ति दी है। यह नृत्य, गीत, विलास तथा सुकुमार श्रृंगारादि चेष्टाओं से युक्त वृत्ति है। इसके अतिरिक्त कथक ने सात्विकी वृत्ति को भी अपने द्वारा पूर्णता दी है।

काव्य तथा विशेष रूप से ठुमरी कथक में रसाभिव्यक्ति का विशेष माध्यम है। यहां नृत्य के रस, भाव तथा व्यंजना से युक्त, संपूर्ण आंगिक एवं मानसिक भाव सौंदर्य की कलात्मक अभिव्यक्ति होती है। यहाँ शब्दों के विभिन्न भाव बोधों को अधिक से अधिक रचनात्मक सौंदर्यपूर्ण अभिव्यक्ति दी जाती है। भावों के अनुरूप आंगिक अभिनय की मुद्राओं, दृष्टि, देह गतियों, दृष्टि भेद के सूक्ष्म परिवर्तनों, भृकुटि भेद, होठों का वंकिम हास्य, सात्विक भावों की कलात्मक रचना की जाती है। यहां आंगिक अभिनय का सौष्ठव तो रहता ही है, साथ ही दृष्टि ने अनुसार इनका हलन-चलन निर्धारित रहता है। चूँकि नृत्य में दृश्य सौंदर्य एवं भाव सौंदर्य का एकाधिपत्य रहता है, अतः दृष्टि ही यहाँ रसभाव का मुख्य, सुन्दर, भावप्रवण, अभिजात्य एवं सुसंस्कृत माध्यम होता हैं। आँखों की पुतलियों में समाकर एवं हृदय की अंतरात्मा में भींगकर ही कथक की ठुमरियों का श्रृंगार भाव अध्यात्म भाव को साकार कर पाता है, शब्दों के अर्थ से भी आगे निकल जाती है। आँखों की वह भाषा, जहां हृदय ही हृदय की भाषा को पढ़-सुन तथा महसूस कर पाते हैं। भरत के रस सूत्र को कथक कलाकार अपनी ठुमरी के भाव प्रदर्शन द्वारा पूर्ण साकार कर देता है। काव्य के लिए यह कहा गया है कि इनके शब्द अपने अर्थ द्वारा सीधे अपनी बात तो कह ही जाते हैं, इनके अर्थ सौंदर्य भी होता है, तथा इस सीधे-सीधे अर्थ से भी अधिक प्रबल तथा सुंदर, अधिक लावण्यमय कुछ अनकहा भी होता है, जो हृदय की संवेदनाओं द्वारा महसूस किया जाता है। यह अनुभूति प्रधान होता है और काव्य में निहित इसी अनकहे हृदय संवेग को कथक नर्तक अपनी संवेदना बनाकर अनुभाव, संचारी भाव एवं सात्विक भावों द्वारा पूर्ण रचनात्मक सौंदर्य के साथ प्रस्तुत करता है।

ठुमरी कथक की रसाभिव्यक्ति का शास्त्रीय विधान है, अतः इन्हें आंगिक, वाचिक, सात्विक तथा अहार्य अभिनय को पूर्ण साधकर सात्विक अभिनय की पूर्णता से अभिव्यक्त करना आवश्यक है। साथ ही यह आवश्यक है कि ठुमरी को संपूर्ण शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान एवं संपूर्ण सौंदर्यबोध का बौद्धिक विश्लेषण कर उसे प्रस्तुत किया जाए केवल ठुमरी के शाब्दिक अर्थ ही नहीं, उसमें निहित संपूर्ण भाव बोध एवं हृदय संवेग भावों को समझकर उसे प्रस्तुत किया जाय। ठुमरी में विभिन्न रसों के विभिन्न भाव बोध होते हैं। कुछ ठुमरी है जो केवल श्रृंगार प्रधान है, किन्हीं में केवल बिरह भाव, कुछ करूण रस से परिपूर्ण है तथा किन्हीं ठुमरियों में अन्य और रसों को व्यक्त किया गया है, पर इसके लिए आवश्यक है कि मुख्य रस को पहचान कर उसे ही प्रमुखता दी जाय तभी ठुमरी का संपूर्ण सौंदर्य निखरेगा एवं ठुमरी का रस भंग नहीं होगा। नाट्यशास्त्र के अनुसार जहाँ बहुत से रस मिले हो, उन रसों में जिस भाव का रूप बहुत व्यापक हो, वह रस स्थायी होता है, रस व्यक्तिचारी होते हैं। ठुमरी में इसे स्मरण रखना आवश्यक है। साथ ही कथक के लिए यह भी आवश्यक है कि अंत में शांत रस में समाहित हो जाए, यह आवश्यक भी है क्योंकि कथक चित्तवृत्ति का विलास नहीं; चित्तवृत्ति की समाधिस्थ अवस्था है, अतः शांत भाव की अनुभूति आवश्यक है। शांत रस की अंतिम अनुभूति तभी हो सकती है जब ठुमरी में अभिव्यक्त किया जाने वाला रस, चाहे वह कोई भी हो, अपने संपूर्ण सौंदर्य, मनोविज्ञान एवं शरीर विज्ञान की शुद्धता तथा नैतिक धर्म से प्रस्तुत

Scanned with CamScanner

किया जाय। भरत वाक्य के अनुसार शांत सभी रसों के मूल में रहता है, अतः शांत रस का स्थायी भाव वही चित्तवृत्ति होती है, जिसमें किसी अन्य प्रकार की चित्तवृत्ति की विशेषता का अविर्भाव न हुआ हो। यह तभी संभव है जब परसार विरोधी तथा अवरोधी रसों की जानकारी हो, यदि विरोधी रसों के साथ-साथ प्रस्तुत किया जाएगा तो, सौंदर्य बोध खंडित हो जायेगा एवं रस का अखंड आनंद न होने से मन तथा बुद्धि का विचलन शांत चित्तवृत्ति कभी नहीं दे पायेगा।

वैसे कथक ने रसानुभूति में आध्यात्मिकता का पुट भी दिया है एवं परम सौंदर्य स्वरूप का निरूपण किया है, जो शांत रस का आधार है। कथक की ठुमरी के लिए यह आवश्यक है कि रस भोग से ऊपर उठकर इन्द्रिय धरातल से ऊपर उठकर सौंदर्य को रचता हो तभी रस का अखंड स्वरूप सामने आवेगा। कथक ने यह कार्य निपुणता से किया भी है।[11]

कुछ ठुमरियों का संक्षिप्त उदाहरण देकर यह प्रस्तुत करने का प्रयास किया जा रहा है कि इनके द्वारा नव रसों को अभिव्यक्ति में विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावों का क्या स्वरूप है तथा कथक के शास्त्रीय निर्धारण में विभिन्न रसों को इन ठुमरियों ने किस प्रकार सजाया है।[12]

पंडित बिन्दादीन महाराज की ठुमरियाँ कथक शास्त्र के अनुरूप निबद्ध की गयी है। वैसे इन ठुमरियों का प्रमुख भाव श्रृंगार एवं इससे ऊपर उठकर अध्यात्म की अभिव्यक्ति है, किन्तु कुछ ठुमरियाँ केवल श्रृंगार रस प्रधान, विभिन्न नायिका भेद को लेकर रची गयी है। इनमें प्रमुख रस को ही दर्शाना अभिव्यक्ति की सुन्दरता है। 'कान्हा मैं तोसो हारी छोड़ो सारी, सुनो बिहारी नाहीं मैं दूंगी तोहे गारी' श्रृंगार रस प्रधान ठुमरी है। यहाँ नर्तक अथवा नर्तकी को विभाव की भूमिका निभाते समय ठुमरी की नायिका राधा के व्यक्तित्व में पूर्ण ढलकर अन्य सभी प्रकार के संवेदनीय पदार्थों को तिरो भाव कर देना होता है तभी रस का अखंड आनंद प्राप्त होता है। कथक की यह विशेषता रही है कि ठुमरी के प्रमुख स्थायी भाव की अभिव्यक्ति जिस पंक्ति में दर्शायी गयी हो उसे प्रमुखता देकर अनेक बार दुहराया जाता है एवं उसके अनुरूप आंगिक अभिनय और सात्विक अभिनय की विभिन्नता द्वारा उन भावों की सृजन क्षमता का विकास कर उन्हें रचनात्मक आयाम दिया जाता है। श्रृंगार रस प्रधान ठुमरी है तो कौशिकी वृत्ति की प्रधानता रहेगा, किन्तु सात्विती वृत्ति का मूल भाव भी विद्यमान रहेगा, क्योंकि अंत शांत रस में होगा।

श्रृंगार रस प्रधान ठुमरी की संपूर्ण श्रृंगारिक अभिव्यक्ति ही उसे सुन्दरता प्रदान करती है, अतः यहाँ अन्य रसों का समावेश करते समय श्रृंगार रस के सहायक रसों का ही प्रयोग, जैसे हास्य रस का प्रयोग, अभिव्यक्ति को बढ़ायेगा। श्रृंगार में सत, रज तथा तप तीनों गुण की प्रधानता है। श्रृंगार को रजस तथा तमस से ऊपर उठकर सत्व में ले जाना आवश्यक है। इस ठुमरी में विभाव राधा है अतः हावभाव उसके श्रृंगारिक हाव-भाव, स्त्रियोचित हावभाव लावण्य तथा मधुरता से परिपूर्ण होंगे। अनुभाव के रूप में नायिका की चेष्टाएँ, भाव अनुभूति, प्रमुख है। ठुमरी के शब्दों के अनुकूल कल्पनाओं का विस्तार कर जो चेष्टाएँ की जायेंगी, वे ही रस की अभिव्यक्ति को सुन्दर बनाती है। यहाँ मुद्राओं तथा हस्त तथा पादाभिनय का महत्वपूर्ण योगदान है ही; किन्तु दृष्टि के विविध भावों तथा मुख राग का विशेष महत्व है। मुख्य स्थायी भाव रति या प्रेम को इनके द्वारा अभिव्यक्त करना एवं इनके अनुकूल संचारी भावों, ह्रास, चपलता आदि का प्रकाशन आवश्यक है। दृष्टि यहाँ प्रमुख है। आचार्य भरत ने स्थायी भाव दृष्टि तथा संचारी भाव दृष्टि का विवेचन किया है इनके नाम नव रसों के आधार पर ही है। यहां शांत, भयानक, हास्य, करुण आदि आठ स्थायी भाव की दृष्टियाँ है एवं तैंतीस संचारी भावों की भी द .टियाँ हैं। ये दृष्टि भेद अर्थाधारित एवं भावाधारित होते हैं। इनका शास्त्र सम्मत ज्ञान नहीं हो तो भी नर्तक इनका प्रयोग प्राकृतिक रूपों से करता ही है, क्योंकि ये लोक व्यवहार से ही ली गयी है। 'छोड़ो सारी' की अथवा 'कान्हा मैं तोसे हारी' के विभिन्न भावों में श्रृंगार परक विभिन्न दृष्टियों का प्रयोग किया जा सकता है।

शास्त्रीय निरूपण ही ठुमरी को शास्त्रीय एवं अभिजात्य बनाता है तथा रस की अभिव्यक्ति को

Scanned with CamScanner

उच्चता प्रदान करता है।[13] ठुमरी की इस रसाभिव्यक्ति में वाचिक अभिनय का भी महत्व है। आचार्य नंदिकेश्वर के अनुसार जिस नृत्य में वाणी द्वारा काव्य (गीत संगीत) और नाटकादि (सम्वाददि) की अभिव्यंजना की जाय उसे वाचिक अभिनय कहते हैं। श्रृंगार आदि नौ रसों में षड्ज आदि सात स्वरों के प्रयोग का निरूपण करते हुए लिखा गया है, वाणी के तीन स्थान हैं, उर, कंठ तथा सिर, किस अवसर पर किस स्थान की वाणी का प्रयोग करना चाहिए इसकी विधि जानने के लिए स्वर तथा स्थान का ज्ञान होना आवश्यक है। ठुमरी गाते समय भावों के अनुकूल शब्दों का इसके अनुसार प्रयोग, भावों को उद्दीप्त करता है, : किसी अन्य रस का समावेश न किया जाय तो श्रृंगार की संपूर्णता को पूर्ण कलात्मक एवं सृजन की रचनात्मकता देने कथक में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के पूर्ण तत्व समाहित है।[14]

'सब बन ठन आई श्याम प्यारी' में वासकसज्जा नायिका के चित्रण के साथ श्रृंगार रस की अभिव्यक्ति है, यहाँ विभाव अर्थात् कलाकार में वासक सज्जा नायिका के संपूर्ण गुणों की आवश्यकता है, उसी के अनुसार ही श्रृंगारिक चेष्टाएँ तथा दृष्टि भृकुटी, कटाक्ष एवं मुखराग की स्थिति आवश्यक है। श्रृंगार मधुरतम तथा सुकुमारतम होता है, किसी भी रस का स्पर्श उसे मलिन बना देता है।[15]

श्रृंगार सभी व्यक्तियों के अंतःकरण का भाव है, अतः सभी इनसे पूर्ण प्रभावित तथा मुग्ध होते हैं। यहाँ यदि अन्य रसों का भाव, ठुमरी में दर्शाया भी जाता है, तो भी उनमें विभाव, अनुभाव आदि का वर्णन श्रृंगार अंगभाव से ही किया जाता है, जैसे 'कान्हा मैं तोसे हारी में' गुस्सा भी प्यार भरा ही होगा, क्रोध में प्रेम का सम्मिश्रण दिखाना आवश्यक है। 'कौन गली गयो श्याम' में मुख्य रस विरह है, किन्तु यहाँ भक्त की, नायिका की एवं माँ यशोदा तीनों अंतर्मन की अभिव्यक्ति है। अतः यहाँ तीनों के विभाव के भिन्न-भिन्न भाव बोधों को लेकर स्थायी भाव को रसासिक्त किया जा सकता है। स्थायी भाव सभी में एक है, किन्तु अनुभाव तथा संचारी भाव भिन्न-भिन्न है और सात्विक अभिनय द्वारा रस की अभिव्यक्ति को पूर्णता दी जाती है। 'डगर चलत देखो श्याम कर गइयाँ' में श्रृंगार रस के साथ ही साथ 'गहो क.ण को जाने न पाए इन्हें आज हम नारी बनावें' इन पंक्तियों में हास्य रस का भी प्रयोग है। चूँकि श्र 'गार तथा हास्य एक-दूसरे के मित्र रस है, अतः इनका प्रयोग रस को पूर्ण बनाकर आनंदमय बनाता है। यहाँ शब्द के अर्थ के अनुरूप श्रृंगार की अभिव्यक्ति में अंतर भी आता है। 'कान्हा मैं तोसे हारी' और 'डगर चलत श्याम कर गइया' दोनों में श्रृंगार के अनुभाव तथा द .टि भेद तथा चेष्टाएँ भिन्न-भिन्न होगी।

'कासे खेलूँ मैं पिया घर नाहीं' में प्रोषित पतिका नायिका का चित्रण है, किन्तु यहाँ भी श्रृंगार रस से ही निकलने वाला भाव है, यहाँ नायिका का रौद्र रस को परिपूर्ण क्रोधी स्वरूप अधिक दर्शाया जाता है। यहाँ विभाव अर्थात् नर्तक को प्रेषित पतिका नायिका के समस्त गुणों की जानकारी आवश्यक है, उसी के अनुसार अनुभाव तथा संचारी भाव भी जुड़ते हैं।

'ऐसे राम हे दुख हरण', फन डगमगे' भक्तिपरक ठुमरियाँ हैं, पहले में करूण रस तो दूसरे में वीर रस की प्रधानता है। रसानुभवों में एक सामान्य चित्त ध्यान या दशा आवश्यक है, यह दशा विभिन्न रसों में विभिन्न स्थिति को प्राप्त करती है। श्रृंगार के रसानुभाव में चित्त विकास, वीर के रसानुभाव में चित्त विस्तार, रौद्र में चित्त विक्षेप, वीभत्स में चित्त विक्षोभ माना गया है। एक कथक कलाकार को इसकी जानकारी आवश्यक है, तभी रस की अभिव्यक्ति अखंड अनुभूतिपूर्ण होगी।[16]

इन रसों के अनुसार लय का भी स्वरूप है, श्रृंगार में विलंबित तथा द्रुतलय, कहीं मंथर गति की चपलता, करूण में विलंबित लय, भय में द्रुतलय, रौद्र में द्रुत लय आदि संगीतबद्ध एवं रागों में स्वरबद्ध भी रसों के अनुकूल आवश्यक है। पैरों की गति, मुद्राओं तथा शिरोभेद का भी लय के अनुसार निरूपण किया जाता है। करूण रस, विरह में आंगिक विन्यास की गतियाँ मंद धीर गंभीर होती है। श्रृंगार में आंगिक संचालन चपलता तथा द्रुत गति में होगा। लय भावों को गति देने में सहायक होते हैं। ठुमरियों द्वारा रस निरूपण में कथक की शास्त्रीय लय बद्ध गति तत्कार का भी महत्व है, यहाँ लयकारी भी प्रस्तुत की जाती है, किन्तु इनका प्रयोग भी ठुमरी

Scanned with CamScanner

रस निरूपण के अनुसार, गत निकास के चाल भी प्रस्तुत किये जाते हैं।[17]

अतः किसी भी कला के बारे में रस को अलग कर सोचना असंभव ही है। ठुमरी को भी आप किसी भी पहलू से सोचना, समझना प्रारंभ करें, वह रस में आकर संपूर्ण होता है। ठुमरी के लिए कथक का प्रयोग आहार्य अभिनय की सज्जा प्रथम ही नख से शिख तक रसमय बना देती है। आंगिक अभिनय की कलात्मकता ठुमरी के शब्दों के कारण पदाभिनय की शास्त्रीय कलात्मक गतियाँ, भावों को रस तक पहुँचने में गति देती हैं, ये शरीर को मन के साथ एकाग्र करने में सहायक होती है एवं मन की एकाग्रता सात्विक अभिनय की जीवंतता में सहायक होती है। ठुमरी के माध्यम से रसाभिव्यक्ति कलाकार को नैतिक बोध, शारीरिक एवं मानसिक क्षमता, बौद्धिक कुशलता एवं मानसिक गुणों के पश्चात् प्राप्त होती है। रस की अभिव्यक्ति को पूर्णता देने में कलाकार को कई महत्वपूर्ण आयामों तथा अनुशासनों से गुजरना पड़ता है। ठुमरी कलाकार की वासना का कथक प्रयोग के लय, ताल तथा अभिनय के साथ पूर्ण तपकर, निखरकर विशुद्ध रूप से आनंद प्राप्त करने की प्रक्रिया है। ठुमरी की रसाभिव्यक्ति यहाँ सौंदर्य सौंदर्योदात्त हो जाती है। ठुमरी की संपूर्ण रचना रस के लिए रची गयी है; जहां शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक अनुशासन का शास्त्र है। ठुमरी की रसाभिव्यक्ति में कथक कलाकार को मानवीय स्तर पर संपूर्णता प्रदान करने का सूत्र है।

किसी कला की पूर्णता की अनुभूति ही रसानुभूति है। जबतक मनुष्य के चित्त में वासना रहने का धर्म बना हुआ है, अखंडता के प्रति आग्रह या अनुराग बना है, तब तक रस का सिद्धांत आवश्यक है और यही तथ्य ठुमरी के लिए अप्रासंगिक हो ही नहीं सकता। रस ही ठुमरी की अक्षुण्णता, अखंडता है, अनुभूति है, जो युगों तक पूर्ण जीवंतता को साथ ठुमरी तथा कथक कलाकार को उस के सृजन के साथ महसूस करते हैं।

संदर्भ-

1.वख्शी ज्योति, स्त्रोतः कथकः अक्षरों की आरसी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 2000, पृ0 156

2.झा श्री चिरंजी लाल, कला के दार्शनिक तत्व, पृ0 205, ।

3.शर्मा प्रेमलता, रस सिद्धांत, मूल, शाखा, पल्लव, पतझड़, पृ0 115, ।

4.भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, अध्याय 6, ।

5.शर्मा डॉ0 प्रेमलता, 'रस सिद्धांत, मूल, शाखा, पल्लव, पतझड़, पृ0 79, ।

6.आचार्य नन्दिकेश्वर, अभिनय दर्पण, लोकाठ,

7.गैरोला आचार्य वाचस्पति, भारतीय नाट्यपरंपरा एवं अभिनय दर्पण, पृ0 161

8.विश्वनाथ आचार्य, साहित्य दर्पण, अध्याय 3, लोक 134

9.मेग श्री रमेश कुंतल, साक्षी है सौंदर्य प्राश्निक, पृ0 33 ।

10.मुनि भरत, नाट्यशास्त्र, लोक 7, अध्याय 6, ।

11.वख्शी ज्योति, कथकः अक्षरों की आरसी, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 2000, पृ0 178

12.तत्रैव, पृ0 178

13.तत्रैव, पृ0 179

14.तत्रैव, पृ0 180

15.तत्रैव, पृ0 181

16.तत्रैव, पृ0 181

17.तत्रैव, पृ0 181

Scanned with CamScanner

संगीत में सम्मेलन का महत्व

डॉ0 श्रुति होड़ा

संगीत कला उस निर्मल तथा पुनीत गंगाजल के समान है, जोकि अपने सम्पर्क में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति को निर्मलता एवं शीतलता प्रदान करते हुए प्रसन्नचित कर देता है। आदिकाल से ही संगीत को एक परम शांतिदायनी कला के रूप में सम्मानित किया जाता रहा है। इसी कला को कलाकार द्वारा सैंकडों कला प्रेमियों के समक्ष प्रत्यक्ष प्रस्तुतीकरण का सर्वोत्तम माध्यम संगीत सम्मेलन है।

सम्मेलन का अर्थ है, सम्मिलित होना। जिस समारोह में संगीतज्ञ तथा संगीत प्रेमी दोनो निःसंकोच रूप से सम्मिलित होते है। उसे 'संगीत सम्मेलन' की संज्ञा प्रदान की जाती है। स्वर्गीय श्री जगदीश नारायण पाठक के अनुसार, संगीत-प्रेमियों तथा संगीतज्ञों के सम्मेलन का नाम ही संगीत सम्मेलन है। ''संगीत-सम्मेलन का अर्थ और व्याख्या :- यह एक सर्वसम्मत मान्यता है कि संगीतकला के प्रस्तुतीकरण का सर्वोत्तम माध्यम इसका श्रोताओं के समक्ष प्रत्यक्ष मंच प्रदर्शन ही है। जब श्रोता किसी कुशल कलाकार को अपने सामने प्रत्यक्ष रूप से गायन अथवा वादन करते हुए देखते है, तो वे उसका संगीत सुनने के साथ-साथ उसकी विभिन्न मुद्राओं तथा चेहरे के हाव-भाव प्रदर्शन का भी पूर्ण आन्नद लेते है। कलाकार भी अपने श्रोताओं तथा दर्शकों को प्रत्यक्ष रूप से सामने देखकर सरलता से यह जान लेता है कि उसके कला प्रदर्शन पर उनकी क्या प्रतिक्रिया है। इस प्रकार वह उनकी रूचि का अनुमान लगाते हुए उसके अनुसार ही अपने संगीत प्रदर्शन को ढालता चलता है। इस प्रकार संगीत सम्मेलन में सम्मिलित सभी व्यक्ति अलौकिक संगीत आननद में विलीन हो जाते है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमिः- प्राचीन काल में आकाशवाणी तथा दूरदर्शन जैसे प्रचार माध्यमों की अनुपस्थिति के कारण संगीतकला के सार्वजनिक प्रदर्शन का एक मात्र माध्यम संगीत सम्मेलन को ही माना जाता था। जाति गायन तथा प्रबन्ध गायन आदि प्राचीन गायन प्रकार संगीत सम्मेलनों द्वारा ही जन साधारण में लोकप्रिय हुए। महान संगीत इतिहासकार श्री उमेश जोशी अपनी पुस्तक ''भारतीय संगीत का इतिहास में लिखते है कि ''गुप्त काल में तो शासकों द्वारा भी ऐसे विशाल संगीत सम्मेलन आयोजित करवाएं जाते थे जिसमें जनसाधारण को भी सादर आमंत्रित किया जाता था।

किन्तु मुस्लमान शासको के आगमन पर स्थिति इसके ठीक विपरीत हो गई। अपने संगीत प्रेम के कारण वह शासक उत्तम संगीतज्ञों को अपने दरबार में नियुक्त करना अपने सम्मान की बात समझते थे। किन्तु सम्राट अकबर के अतिरिक्त कोई भी ऐसा शासक न था, जो यह चाहता हो कि उसके दरबारी संगीतज्ञ जन साधारण के सामने अपना कला प्रदर्शन करें। साथ ही उस समय के संगीतज्ञ भी अपने अभिमान के कारण साधारण जनता में गाना बजाना अपनी शान के विरूद्ध समझते थे, बल्कि वे तो अपने विलासी आश्रय दाताओं की खुशामद करने तथा उनको निम्न श्रृंगार रस की अश्लील रचनाएं बनाकर सुनाने मे ही अपना गौरव समझते थे।

इस प्रकार सार्वजनिक संगीत सम्मेलनों की प्रथा समाप्त होने का सबसे बडा दुष्परिणाम यह हुआ कि सामान्य जनता और संगीतज्ञों का पारस्परिक सम्पर्क बिल्कुल टूट गया तथा संगीत के साहित्य में अश्लील रचनाओं की भरमार होने के कारण सभ्य लोग संगीत जैसी उत्तम कला को केवल विलासिता

Scanned with CamScanner

और सस्ते मनोरंजन का साधन मानने लगे।

ब्रिटिश काल में महान संगीत अवतार स्वर्गीय पं0 वी.एन.भातखण्डे जी ने इस विकट परिस्थिति का गहराई में अध्ययन किया तथा संगीत सम्मेलनों की प्रथा को पुनर्जीवित करने की महान आवश्यकता को अनुभव किया । उनके प्रयत्नों के फलस्वरूप स्थानीय शासकों तथा अन्य गणमान्य व्यक्तियों के सहयोग से दिल्ली, लखनऊ तथा ग्वालियर, बडौदा जैसे महानगरों मे विशाल अखिल भारतीय संगीत सम्मेलनों का आयोजन हुआ। जिनमें कि देश के सर्वोत्तम कलाकारों तथा संगीत शास्त्रीयों ने भाग लिया। श्रेष्ठ कला-प्रदर्शन के अतिरिक्त इन सम्मेलनों में संगीत के विभिन्न विवाद ग्रस्त बिंदुओं पर भी सदभावना पूर्वक चर्चा हुई तथा उनमे से अधिकांश का निर्णय भी हुआ।

आधुनिक कालीन संगीत सम्मेलन

भातखण्डे जी से प्रेरित होकर अनेकों अन्य कला-प्रेमी सज्जनों ने देश के विभिन्न नगरों में वार्षिक संगीत सम्मेलन प्रारम्भ किए जो कि अधिकांशतः आज तक जारी है। आज शासन द्वारा भी संगीत सम्मेलनों का आयोजन करके तथा जनता के द्वारा आयोजित सम्मेलन को भी अनुदान देकर कला के विकास में पर्याप्त सहयोग दिया जाता रहा है। आधुनिक काल में मुख्य संगीत सम्मेलनों मे निम्नलिखित है:-

1) श्री हरिवल्लभ राग मेला जालंधर
2) बाबा भंडारी बसंत राग उत्सव होशियारपुर
3) रेडियों संगीत सम्मेलन दिल्ली एवं मद्रास
4) हरिदास संगीत उत्सव और तानसेन संगीत सम्मेलन कलकत्ता

संगीत सम्मेलनों के लाभ

1) संगीत सम्मेलनों द्वारा ही देश की सामान्य जनता को संगीत के वास्तविक व उत्तम रूप के दर्शन हुए तथा इस कला को सभ्य समाज में पुनः सम्मान प्राप्त होने लगा।
2) संगीत सम्मेलनों द्वारा भारत के साथ-साथ विश्व के अन्य देशो की जनता को भी भारतीय संगीत की महान गरिमा और महिमा को जानने का अवसर मिला।
3) अलग-अलग घरानों के कलाकारों में पारस्परिक सम्पर्क स्थापित हुआ तथा उनको एक-दूसरे की गायन वादन अथवा नृत्य शैली के गुणों को ग्रहण करने की प्रेरणा मिली।
4) जो राग भिन्न-2 घरानों में अलग-अलग से गाये बजाये जाते थे, संगीत सम्मेलनों द्वारा उनके स्वरूप के एकीकरण में सहायता मिली।

समस्याएँ

1) संगीत सम्मेलनों में कलाकारों मे कही-कहीं प्रतिस्पर्धा के स्थान पर ईर्ष्या ने जन्म ले लिया तथा यह कलाकार मंच पर जनता के सामने एक-दूसरे को नीचा दिखाने की चेष्टा करने लगे, जिससे अनेको बार कला का रूप बिगडता हुआ दिखाई देने लगा। आज तक यह दुष्प्रवृति दूर नही हो सकी।
2) आजकल जनता बडे कलाकारों के नाम के पीछे भागती है, जिसके कारणा ये कलाकार अभिमान में आकर आयोजको से इतनी अधिक फीस माँगते है, जो कि आयोजक दे नहीं पाते।

उपसंहार निस्संदेह संगीत सम्मेलनों संबंधी यह सभी समस्याएँ अत्यन्त विकट हैं। परन्तु समूचे संगीत की उन्नति को ध्यान में रखते हुए, यदि आज के कलाकार तथा संगीत सम्मेलनों के आयोजक अपनी मनोवृत्तियों को बदले तो निश्चय ही इनका समाधान हो सकता है।

Scanned with CamScanner

मिथिलांचल का लोकनाट्य जट-जटिन

डॉ. शीला झा

उत्तर बिहार का "जट-जटिन" वस्तुतः लोक संगीत और आंचलिक नाट्य के बीच का नमूना है। अंग्रेजी के "फोकप्ले" की संज्ञा "जट-जटिन को दी जा सकती है। अर्थात् यह ऐसा प्रदर्शन है, जिसमें बिना किसी विशेष तैयारी के ग्रामीण समाज अपने जीवन और अनुभूतियों के विषय में एक समुदायिक उत्सव के रूप में रंग-प्रदर्शन प्रस्तुत करता है। इसका साहित्यिक अंतरंग और काव्य उन नाटकों से भिन्न है जिसका विकास संस्कृत नाट्य के ह्रास काल में संगीत नृत्य और भाषा संवाद के समावेश द्वारा हुआ था। इसके काव्य में ऐसी ताजगी और अकृत्रिम विम्ब योजना है जो अन्य पारंपरिक आंचलिक नाट्यों में लगभग अप्राप्य है। जट-जटिन पूर्णतः स्त्री समाज का मनोरंजन है। स्त्रियाँ ही वेश धरती है। गान और नृत्य करती है। और प्रेक्षक भी स्त्रियाँ ही होती हैं, पुरूष इस नाट्य को नहीं देख सकते। अतः इसमें दाम्पत्य जीवन का वह मार्मिक पक्ष उभरता है जो न तो पौराणिक कथाओं में है और न परंपरागत प्रेमाख्यानों में।[1]

इस लोक नाट्यों में जट "अभिनेता तथा जटिन "अभिनेत्री" है। आश्विन कार्तिक जेठ एवं वैसाख महीने के धवल रात्रि में मिथिला क्षेत्र के लगभग ग्रामांचल में इस लोक नाट्य का प्रदर्शन हुआ करता है।[2]

ग्रामीण महिलाओं का सम्पूर्ण दल दो भागों में बँट जाता है, जिसमें एक दल जट का साथ देता है तथा दूसरा दल जटिन का साथ देता है। इसके कथानक में जट जटिन के वैवाहिक जीवन के साथ तथा विविध समस्या तथा दुख, पुरूष, पारिवारिक बलात्कारी प्रवृतिक बर्बरता आदि समस्या के साथ जिन्दगी के अनुभूतियों का स्वभाविक रूप से इसमें चित्रण रहता है।

"जट-जटिन" लोक नाट्य के प्रस्तावना में ही सहगान एवं नृत्य का उल्लास आरंभ हो जाता है। इस उत्सव में जीवन के आन्तरिक आशाओं और शंकाओं का शाश्वत संयोग बना रहता है। दाम्पत्य जीवन से संबोधित घटना का क्रमिक परिचय इसमें मिलता है।[3]

इस लोक-नाट्य का कथानक जट जीवन के विवाह से आरम्भ होता है। जट के हृदय में जटिन के प्रति अपार स्नेह का संचार होता रहता है। दोनों के प्रणय सूत्र में बँध जाने का प्रयास भी आरंभ होता है। किन्तु जट एक ऐसी प्रमिका की तलाश में है जो प्राचीन आर्य ललना के समान ही पति के सुख में सुख तथा उसके दुख में दुखी रहे। उसे आधुनिक उद्धत एवं अल्हर औरत पसंद नहीं था, और यही कारण है कि मनोनुकूल शर्त जट अपनी भावी प्रेमिका के समक्ष रखता है। जटिन जट का कोई शर्त स्वीकार नहीं करती है। क्योंकि वाल्यकाल से ही वो अपने पिता के यहाँ स्वतंत्र रूप से व्यतीत करती आ रही है। इसीलिए उसमें अल्हड़पना आना तय है।

यह तो सामान्य सोच है और सत्य भी है कि परतंत्र रहकर कोई जीवन यापन ढंग से नही कर सकता है। परतंत्रता अभिशाप है जो जिन्दगी को विषाक्त बना देती है। जबकि जटिन स्वाधीनता एवं समान अधिकार पाने के लिए इक्छुक है जो स्वाभाविक भी है। लेकिन जट अपनी भावी पत्नी जटिन के शर्त पर विवाह का विरोध करता है लेकिन फिर भी दोनों

संकायाध्यक्ष, ललितकला संकाय, ल0ना0मि0वि0, दरभंगा

Scanned with CamScanner

प्रणव सूत्र में बंध जाते है। और अंततः होता भी यहीं है जिसका अनुमान था। जटिन के बिजूल खर्च से थोड़े ही समय में जट दिवालिया हो जाता है। जीविका का कोइं आय नहीं देखकर अंततः जट नौकरी की तलाश में परदेश की ओर रवाना होता है। महिलाओं को सोने के आभूषण से बहुत लगाव होता है। सोने की चाह महिलाओं को सोने नहीं देता। जट जब परदेश जाने को तैयार होता है तो उस आर्थिक संकट में भी जटिन उसे टीका, अंगूठी, टुकली, नथिया आदि लाने के लिए कहती है। जिसे उसने अपने दाम्पत्य जीवन में कभी करार करवाया था। पति-पत्नी के इस नोंक-झोंक में कभी हास्य रस मिलता है तो कभी करूण रस। तात्पर्य यह की लोकमानस के माध्यम से इस लोक-नाट्य में जीवन के विभिन्न रसों की झाँकी मिलती है।

जट-जटिन के इस लोकनाट्योपरान्त स्त्री द्वारा हल जोतने की परिपाटी अभी भी कई गाँवों में प्रचलित है। तत्पश्चात मेढ़क को मारकर ओखली मुसली में कूट कर वैसे व्यक्ति के आंगन में फेंक दिया जाता है जो गाली गलौज करने में कुख्यात होते हैं। माना यह जाता है कि तथाकथित महिला कितनी गाली देती है नाटक की सफलता उतनी ही मानी जाती है।

यद्यपि पौराणिक परम्परा यह भी प्रचलित है कि जब बारिश नहीं होती है और खेत बिना पानी के सुख रहे हैं तो ग्रामीण महिलाएँ इस लोक नाट्य के माध्यम से देवता इन्द्र की अराधना करते हैं। ताकि वो बारिश करवाकर खेत खलिहान में हरियाली ला दें। शोध अध्ययन से यह बात तो स्पष्ट होती जा रही है कि मिथिला के जितने भी लोकनाट्य हैं उनके पीछे कहीं न कहीं से धार्मिक भावना अवश्य ही काम कर रही है। या तो उस लोक-नाट्य को पूजते हैं या फिर उस लोकनाट्य में देवता की पूजा होती है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में भी नांदी पाठ और मंगलाचरण से अराधना की जाती है। अब थोड़ा देखें, इस जट-जटिन लोकनाट्य के पद्यात्मक अंश को :-

जट :-नवि कें चलिहें गे जटिनियाँ नवि कें चलिहें गें।
जहिना नवतैं काँच करचिया तहिना नविहें गे।
जटिन :- नहिए नबबै रे जटबा नहिए नचबै रे।
हम तँ बाबा के दुलारी धीया तनिकें चलबौ रे।
जेना चलै जमींदरबा तहिना चलबौ रे।
हाथ फेंक के चलबौ रे जटा गाँह फेंक के चलबो रे।
जट :- नवहिं परतौ गे जटनियाँ नवहि पड़तौ गे।
जेना नवतै कौनिक सीसवा तहिना नबबेरे।
जटिन :- नहिए नबबौ रे जटबा नहिए नबबौ रे
जेना रहतै केराक धमबा तहिना रहिबौ रे।
जट :- नविकँ चलिहें गे जटिनियाँ नवि कें चलिहें गे।
जेना नवतै धानक सीतवा तहिना नविहें गे।
जटिन :- नहिए नबबौ रे जट नहिए नबबौ रे।
बथाने जायबो रे जटा बथाने ख्यबो रे।
बाबा सोहन दुअरिया जटा सरम सँ मरती रे।
खाम्हार पर जयबौ रे जटा खाम्हार पर जयबौ रे।
भैया सोहर खाम्हार पर जटबा सरम सँ मरती रे।

और इसी तरह यह गायक सम्पूर्ण रसों के अभिनय के साथ चलता रहता है। रात्रि के अर्थ बेला से इसका आयोजन आरम्भ होता है और भरपुर मनोरंजन के साथ इसका समापन होता है। वैसे सर जेम्स जार्ज फ्रेजर " दी गोल्डेन बोध" में लिखा है की अनावृष्टि होने पर नग्न स्त्री द्वारा हल चलाने तथा मेढ़क मारकर दूसरे के घर में फेंकनें की परिपाटी थी।[4]

यह तथ्य उतना गलत नहीं लगता क्योंकि यह लोक-नाट्य मात्र स्त्रियों के बीच होता है और इसके कर्त्ता से लेकर दर्शक तक महिलाएँ ही रहती है एवं इसका आयोजन रात्रि को तब होता है जब सारे लोग नींद में रहते हैं। इसलिए यह आवश्यक नहीं की अपशब्दों का प्रयोग न हो।

भारत के कई राज्यों में फैले लोकनाट्य से संबंधित ग्रन्थों के अध्ययनोपरान्त मध्यप्रदेश तथा तमिलनाडू के लोकनाट्य में यह प्राप्त हुआ है कि वर्षा हेतु मेंढ़क को बाँस से बना सूप में उसको बाँध के गाँव के हर दरवाजे पर जाकर गीत गानें की परिपाटी है। दरवाजे पर पहुँचने के साथ ही उस घर की महिलाएँ उस मरे हुए मेढ़क पर पानी डालती है। फ्रेजर साहब ने लिखा है कि ब्रिटिश कोलम्बिया के टॉमसन भारतीयों के मध्य तथा यूरोप में कुछ ऐसी

Scanned with CamScanner

वृष्टि हेतु मेंढ़क मारने की परंपरा।

शोध अध्ययन के दरम्यान मिथिला के लगभग सभी प्रमुख गाँव का सर्वेक्षण किया जिसमें पाया कि शायद ही कोई गाँव है जहाँ जट जटिन न होता हो। यह इसी लोकनाट्य की सहजता एवं सरलता है जो महिलाओं को बरबस अपनी ओर खींच लेता है। वर्तमान में मिथिला के जितने भी लोकनाट्य है उसमें सर्वाधिक चर्चित एवं लोकप्रिय लोकनाट्क यहीं है। मिथिला का यह लोकनाट्य न केवल देश स्तर पर चर्चित है बल्कि इस लोकनाट्य का प्रदर्शन अन्तराष्ट्रीय स्तर पर भी हो चुका है। भारत महोत्सव जो रूस में सम्पन्न हुआ उसमें इसी लोकनाट्य का प्रदर्शन हुआ है।

(Footnotes)

1. राकेश रामइकबाल सिंह, मैथिली लोकगीत, पृष्ठ - 366
2. झा राजेश्वर, जट-जटिन, मैथिली साहित्य संस्थान पटना
3. फ्रेजर जे. जी. गेल्डेन बूच, भाग 1 पृष्ठ - 96
3. मिश्र जयदेव एवं झा वासुकीनाथ, पूर्वांचलीय लोक साहित्य, चेतना समिति पटना, पृष्ठ-25

Scanned with CamScanner

निर्गुण भक्ति परंपरा के रचनाकार

रामचन्द्र पासवान

इस परंपरा के अंतर्गत संतों तथा सूफियों का भक्तिकाव्य आता है। संत भक्ति काव्य परंपरा के प्रवर्तन का श्रेय कबीर को दिया जाता है, किन्तु इनसे पूर्व भी कतिपय संत हो चुके थे, जिन्होंने हिन्दी में रचना की। इसमें नामदेव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनकी कुछ कविताएं गुरू ग्रंथ साहिब में भी संग्रहित है। रामानंद के शिष्यों में कबीर, पीपा, रैदास, धनासेन आदि कवि और संत दोनों रूपों में प्रसिद्ध हैं। इन सबमें कबीर सर्वश्रेष्ठ कहे गए हैं। कबीरदास के पश्चातु इस परंपरा में ध र्मदास का नाम आता है। इनका साहित्य अल्प होते हुए भी एतिहासिक महत्व रखता है। इनके पश्चात् गुरूनानक ने इस परंपरा के विकास में योगदान दिया। इनके बाद शेख इब्राहिम का नाम आता है। इनके पद भी गुरुग्रंथ साहब में संग्रहीत है।

संत दादू दयाल संत मत के अनुगामी थे। संत संप्रदाय के विकास तथा साहित्य दोनों क्षेत्रों में आपका महत्व है। मलूकदास ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया। इनका प्रादुर्भाव उस समय हुआ जबकि संत काव्य परंपरा पर सगुण धारा का प्रभाव पड़ना आरंभ हो गया था। दादू दयाल के शिष्य सुन्दर दास का स्थान इस परंपरा में महत्वपूर्ण है। दादू के अन्य शिष्यों में रजबदास, जगन्नाथ जी उल्लेखनीय हैं।[1]

विस्नोई संप्रदाय के संस्थापक जंभनाथ अहेर निरंजनी संप्रदाय के संस्थापक हरिदास निरंजनी इसी परंपरा में आते हैं। 17वीं शताब्दी में मुस्लिम संत यारी हुए, जिन्होंने अपनी रत्नावली नामक पुस्तक में आध्यात्मिक तत्वों का निरूपण किया। संत धरणीदास भी इसी समय हुए। संतनामी संप्रदाय के वि इलन दास अत्यंत लोकप्रिय हुए। 18वीं शताब्दी में चरणदास की दो शिष्याएं हुई- दयाबाई और सहजोबाई जो अपनी सरल रचनाओं के कारण प्रसिद्ध हुई।

इस परंपरा में कुछ कवियों के संबंध में जानना आवश्यक हो जाता है।

नामदेव[2]

संत नामदेव महाराष्ट्र के सतरा जिले में कंदोई के घर नरसोबमनी गांव में सन् 1270 ई0 में उत्पन्न हुए। इनके पिता का नाम दामाशेट और माता का नाम जोनाबाई था। ये संत ज्ञानेश्वर के समकालीन थे। ये अपने समय में महाराष्ट्र तथा उत्तरी भारत में इतने प्रतिष्ठित हो चुके थे कि कबीर, रैदास आदि ने इनका स्मरण बड़े आदर से किया।

भक्ति की प्रेरणा इन्हें संत ज्ञानेश्वर से मिली और अंत में ये विरक्त हो गए। किंवदन्ती है कि यह पहले डाकू थे किन्तु एक दिन किसी महिला से उसके पति के डाकुओं से मारे जाने और फलस्वरूप हुई दुर्दशा का वर्णन सुनकर ये सब कुछ छोड़कर पंढ़रपुर में जाकर विढोवा के भक्त हो गए। इस प्रकार ये विट्ठल संप्रदाय में दीक्षित हुए। ये पहले सगुणोपासना और कीर्तन किया करते थे। एक तो ये अल्लाउद्दीन द्वारा मूर्तियों को भग्न होते देख चुके थे, दूसरे ज्ञानदेव उनके युक्तियों से उन्हें नाम पंथ में ले आए। इन्होंने विठोवा खंचर नाम के नाथपंथी संत को अपना गुरू बनाया। इस प्रकार सगुणोपासना से डटकर ये नाथपंथी निरंजन की साधना में प्रवृत हुए। ज्ञानदेव के निधन के बाद ये महाराट्र छोड़कर हरिद्वार होते हुए गुरुरामदास जिले पंजाब के धोमन

शोध छात्र, विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0वि0, दरभंगा

Scanned with CamScanner

गांव गये। वहां इनके हिन्दू और सिख दोनों अनुयायी थे। ये आज भी नाथपंथी कहलाते हैं।

ये मराठी के प्रमुख भक्त कवि थे। इनके बहुत से पद हिन्दी में भी है जिसका संकलन आदि ग्रंथ में है।

कबीर[3]

अब तक प्राप्त जीवनवृत के अनुसार यह बताया जाता है कि कबीर का जन्म एक विधवा ब्राह्मणी के गर्भ से काशी में, ज्येष्ठ शुक्ल पूर्णिमा सोमवार वि0सं0 1456 को हुआ था। विधवा मां ने लोक-लाज से अपने अवैध पुत्र को लहरतारा के निकट फेंक दिया। यहां ये अली-नीरू नामक जुलाहा दंपति द्वारा उड़ाकर उसके घर ले जाये गए और वहीं उनका लालन-पालन हुआ। कबीर ने आगे चलकर स्वामी रामानंद का दायित्व ग्रहण किया और 'राम' नाम को अपना गुरू मंत्र जाना। इनका देहान्त मगहर में सं0 1575 वि0 में हुआ।

ये हिन्दी साहित्य के निर्गुणमार्गी भक्तिधारा के प्रमुख कवि हैं। ये भगवान को रूप, रस, गंध, ाब्द आदि से परे मानते हैं। उनकी उक्तियों में पोथी का ज्ञान नहीं, आत्मानुभव का सार सम्पुटित है। इनके व्यक्तित्व का निर्माण सिद्ध-नायक-साधक योगियों और भारतीय अद्वैत वेदान्ती संस्कार से हुआ था। ये अपने हाथ से कुछ लिखते नहीं थे, सिर्फ अनुभवों को सरल भाषा में कहा करते थे। इनके कथनों को इनके शिष्यों ने एकत्र किया। इनके कथनों का पूरा संग्रह बीजक है। इस ग्रंथ के तीन भाग है-साखी, सबद, रमैनी। इन्होंने मुख्यतः दो तरह की बातें कहीं हैं - ईश्वर-प्रेम-भक्ति परक और उपदेशपरक। ईश्वर प्रेम भक्ति उक्तियों में कबीर का हृदय-पक्ष प्रधान है। उपदेशपद उक्तियों में सामाजिक रूढ़िवादिता, अंधविश्वास, ढोंग, ईश्वरोपासना आदि के नाम पर किए जाने वाले व्यर्थ ब्रह्माचारों को कटु भाषा में निन्दा की गयी है। इनमें गंभीर रहस्य अनुभूतियों, बिरह व्याकुलता, आत्मसमर्पण को उत्कंठा, प्रेमपूर्ण भक्ति, आंतरिक प्रेम को निष्ठा, परमात्मा-मिलन की उत्कृष्ट अभिलाषा, बिरहिणी के बिरह, पेाल हृदय को नाना स्थितियों के बड़े ही हृदयोप्लावी कलात्मक चित्र उपलब्ध होते हैं जिसमें भावनात्मक रहस्यवाद का आदर्श अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गया है।

रैदास[4]

रैदास या रविदास रामानंद की शिष्य परंपरा में थे। ये कबीर के समकालीन संतों में से थे। ये काशी में रहते थे। मीराबाई ने इन्हें अपने गुरू रूप में स्मरण किया है। इनमें संतों की सहजता, सरलता, उदारता, निस्पृहता आदि गुण थे। गुरूग्रंथ साहब तथा अन्य कई संग्रहों में इनके पद बिखरे हुए मिलते हैं। इनकी बहुत सी रचनाएं राजस्थान में अभी तक हस्तलिखित रूप में मिलती हैं। इनकी रचनाओं का एक संग्रह ''रैदास की बाणी'' प्रकाशित हुआ है। इनकी भाषा काफी सरल और सुगम है। इनकी बाणी में फारसी शब्दों की बहुलता है।

नानकदेव[5]

सिक्ख मत के प्रवर्तक गुरू नानकदेव का जन्म पंजाब के लाहौर जिला के तिलवंडी ग्राम में कार्तिक पूर्णिमा संवत् 1526 विक्रमी को हुआ था। इनके माता-पिता का नाम तृप्ता तथा कालूराम था। इनके पिता पटवारी थे। 17 वर्ष की अवस्था में इनका विवाह बटाला (गुरूदासपुर) निवासी मूलचन्द खत्री की कन्या सुलक्षना से हुआ। इनके दो पुत्र उत्पन्न हुए श्रीचन्द्र और लक्ष्मीचन्द्र। श्रीचन्द्र प्रसिद्ध उदासी संप्रदाय के प्रवर्तक हुए। गृहस्थी में इनका मन रमा नही। इन्होंने देश-विदेश का भ्रमण किया तथा यात्रा में साधुओं, मुसलमानों, फकीरों, योगियों तथा संतों का संतसंग किया। हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए तथा ब्रह्म (अकाल पुरुष) की प्राप्ति के लिए सीधे सादे उपदेश दिये। इनकी रचनाओं का संग्रह 'गुरूग्रंथ साहब' में है। इनके कुछ भजन पंजाबी भाषा में है और कुछ तत्कालीन हिन्दी-काव्य भाषा में। इनकी वाणी में अद्भुत प्रेरणा दायिनी शक्ति है। इनमें कहीं भी विचारों की संकीर्णता, अनुदारता तथा सांप्रदायिक असहिष्णुता नहीं है। इनमें अभिव्यक्त विचार एक शुद्ध निर्गुणवादी हिन्दू के हैं।

धर्मदास[6]

धर्मदास बांधवगढ़ के निवासी और परमभक्त थे। इनका प्रारंभिक जीवन साकार की उपासना में व्यतीत

Scanned with CamScanner

हुआ। ये जाति के वणिक् और अत्यंत संपत्तिशाली थे। पहले ये तिलक और तुलसी का व्यवहार करते थे। इन्होंने द्वारकापुरी, जगन्नाथपुरी, मथुरा आदि तीर्थों का भ्रमण किया था। एक बार काशी में संत कबीर से इनकी भेंट हुई प्रधान शिष्य होने के कारण उनके मरणोपरांत उनकी जगह इन्हें ही मिली। कबीर की मृत्यु के बीस वर्ष उपरांत इनका देहान्त हुआ। इनके शब्दों का कबीर पंथियों में बहुत आदर है। इनकी रचना परिणाम में कबीर से बहुत कम है, तथापि इनकी भाषा साफ और भाव सरलता से पूर्ण है। इनकी रचनाओं में प्रेम-तत्व का प्राधान्य है।

कबीर दास की रहस्यात्मक भावनता का ही प्राधान्य इनकी रचनाओं में भी मिलता है। ऐसे पदों की रचना के साथ-साथ इन्होंने सोहर, होली, बारहमासा आदि लोकगीतों की भी रचना की, परंतु सभी में भाव अपने सम्प्रदाय को ही रखा। इनकी रचनाओं की भाषा पूर्वी ही है।

दादूदयाल[7]

इनका जन्म सं0 1610 विक्रमी में गुजरात प्रदेश के अहमदाबाद नगर में हुआ। इनके जन्म के संबंध में अनेक किंवदंतियां प्रचलित है। कहा जाता है कि दादू एक छोटे से बालक के रूप में साबरमती नदी में बहते हुए किसी ब्राह्मण को मिले थे। कुछ विद्वान इन्हें लोदी रामनगर का पुत्र मानते हैं। इनके शिष्य रज्जब ने भी इन्हें धुनिया कहा है। ये पहले चौदह वर्षों तक आमेर में रहे फिर मारवाड़ बीकानेर आदि स्थानों में पर्यटन करते हुए जयपुर से 40 मील दूर स्थित नराना नामक स्थान में आकर स्थायी रूप से रहने लगे, फिर अंतिम समय में वहां से कुछ दूर स्थित भराना नामक पहाड़ी पर रहते समय सं0 1660 ई0 में इन्होंने शरीर त्याग दिया।

इनका मत कबीर से मिलता जुलता है। यह पता नहीं चलता कि ये किसके शिष्य थे। इन्होंने अपना एक अलग पंथ चलाया जो ''दादू पंथ'' नाम से प्रसिद्ध है। ये लोग 'निरंजन' का उपासक बताते हैं। दादू ने साखियां (दोई) अधिक कही है, पदो की संख्या कम है। इनकी भाषा राजस्थानी मिली पश्चिमी हिन्दी है। इनकी कुछ रचनाएं गुजराती और पंजाबी में भी है।

सुन्दरदास[8]

सुन्दरदास ''दादू'' के शिष्यों में सर्वाधिक शास्त्रीय ज्ञानसम्पन्न महात्मा थे। ये खंडेलवाल वैश्य जाति के थे। इनका जन्म सं. 1653 में जयपुर राज्य की पुरानी राजधानी दौसा में हुआ। 11 वर्षा की आयु में इन्होंने काशी जाकर दर्शन, साहित्य, व्याकरण, वेदान्त और पुराणों का गंभीर अध्ययन निरंतर 18 वर्ष लगातार किया। फारसी से भी इनका परिचय अच्छा है। भ्रमण की ओर उनकी विशेष रूचि थी। इनका देहान्त सं0 1776 में हुआ।

इन्होंने कुल मिलाकर छोटे-बड़े 42 ग्रंथों की रचना की। ये सभी रचनाएं सुन्दर ग्रंथावली के नाम से संकलित हैं। इनके ग्रंथों में 'सुन्दर विलास' बहुत प्रसिद्ध है। ये श्रृंगार रस के प्रबल विरोधी थे। संत होते हुए भी इन्हें हास्य-रस से विशेष अनुराग था। इनको बहुत सी उक्तियों में हास्य, व्यंग्य एवं विनोद की सृष्टि हुई है। काव्य शास्त्र का सम्यक ज्ञान होने के कारण इनकी कविता में रस-निरूपण तथा अलंकारों की सृष्टि विधिवत् हुई है।

मलूकदास[9]

संत मलूकदास का जन्म इलाहाबाद जिले के काडा गांव में सं0 1631 ई0 में हुआ। इनके पिता का नाम सुंदरलाल खत्री था जिनकी कक्कड़ की उपाधि थी। मुरार स्वामी नाम के महात्मा से इन्हें दीक्षा मिली थी। ये आजीवन गृहस्थ रहे और सं0 1739 में इन्होंने कड़ा गांव में प्राण छोड़ा। निम्नलिखित रचनाएं की संबद्धता इनसे बतलायी जाती हैं - ज्ञानबोध, रतन खान, भक्त बच्छावली, भक्त बिरूदावली, पुरूष विलास, दस रत्न ग्रंथ, गुरू प्रताप, अलखवानी, रामावतार लीला। परंतु इनमें कितनी प्रमाणिक रूप से इनकी है, निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। इनके चुने हुए ग्रंथों और साखियों का एक संग्रह प्रकाशित हो चुका है। इन्होंने मलूक के नाम से एक पंथ चलाया। इनके विश्वासानुसार आत्मज्ञान ही मुक्ति है। आत्मसमर्पण इनकी भक्ति का सार कहा जा सकता है।

Scanned with CamScanner

संदर्भः-

1. कुमार डॉ0 अरविन्द, भारतीय सांगीतिक जगत को तुलसीदास का योगदान, पृ0 30
2. कुमार डॉ0 अरविन्द, भारतीय सांगीतिक जगत को तुलसीदास का योगदान, पृ0 30-31
3. कुमार डॉ0 अरविन्द, भारतीय सांगीतिक जगत को तुलसीदास का योगदान, पृ0 31-32
4. कुमार डॉ0 अरविन्द, भारतीय सांगीतिक जगत को तुलसीदास का योगदान, पृ0 33
5. कुमार डॉ0 अरविन्द, भारतीय सांगीतिक जगत को तुलसीदास का योगदान, पृ0 32
6. कुमार डॉ0 अरविन्द, भारतीय सांगीतिक जगत को तुलसीदास का योगदान, पृ0 32-33
7. कुमार डॉ0 अरविन्द, भारतीय सांगीतिक जगत को तुलसीदास का योगदान, पृ0 33
8. कुमार डॉ0 अरविन्द, भारतीय सांगीतिक जगत को तुलसीदास का योगदान, पृ0 33-34
9. कुमार डॉ0 अरविन्द, भारतीय सांगीतिक जगत को तुलसीदास का योगदान, पृ0 34

Scanned with CamScanner

मंच दर्शन से संगीत में नवोन्मेष

अनादि मिश्रा

सृजनशीलता प्रकृति का सर्वोत्तम गुण है जिसे जानना, समझना व परिभाषित करना सरल नही है। सामान्य रूप से हम कह सकते है कि जीवन और जगत के वहुआयामी यथार्थ को एक बने बनाये ढांचे में ढालकर यान्त्रिक रूप में प्रस्तुत करने की अपेक्षा एक नये ढंग से व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्धों को समझते हुये उस यथार्थ को सामने लाते हैं जो ज्ञान की विविध कलाओ अथवा विधाओ से सम्बन्ध रखता है। इसमें हमें नवाचार, नवोन्मेष और सृजनशीलता का परिचय प्राप्त होता है। लेकिन यह नव्यता बदलते हुये फैशन जैसा नयापन नही, ऐतिहासिक नयापन होना चाहिये। दूसरे शब्दों में कहे तो सृजनशीलता ऐतिहासिक नवीनता में परिलक्षित होनी चाहिये।

सृजनशीलता को सामान्य रूप में साहित्य एवं कलाओं से ही जोड़कर देखा जाता है जबकि वास्तविकता में उसका सम्बन्ध जीवन के सभी क्षेत्रों और मनुष्य की सभी गतिविधियों से है। सम्भवतः इसलिये ही इसका अध्ययन विभिन्न क्षेत्रों से सम्बन्धित लोग करते हैं तथा इसकी चर्चा मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक सौन्दर्यशास्त्रीय आदि अनेक दृष्टियों से की जाती है। वस्तुतः नवीनता प्रत्येक क्षेत्र में अपेक्षित है। यद्यपि सृजनशीलता का महत्व ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक विधा से सम्बद्ध है तथा संगीत कला में इसका विशेष महत्व है। प्रत्येक सृजनशील व्यक्ति की अपनी विशिष्ट प्रकृति होती है जिससे वह अपनी क्षमतानुसार संगीत की अन्तर्वस्तु में शिल्पगत व कलागत सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिये कुछ नवाचारों का प्रयोग करता है जिससे सृजित वस्तु में कलागत नवोन्मेष का अविर्भाव होता है। यद्यपि संगीत की यह संक्षेप की प्रक्रिया नितान्त व्यक्तिक और नवोन्मेषालिनी प्रक्रिया पर अवलम्बित होती है तथापि कलागत सम्प्रेषण के वैभव के द्वारा कलाकार समाजिक या श्रोताओं की अनुभूतियों से साक्षात्कार करवाता है। कलागत नवोन्मेष साधारणीकरण की रस प्रक्रिया से गुजरकर रसानुभूति की अवस्था तक पहुँच कर व्यक्तिगत धरातल से निकलकर समष्टिगत धरातल तक पहुँच जाता है। यह नवोन्मेष संगीत परम्परा की विरासत को आत्मसात करते हुये अपनी नव्यतम सोच द्वारा सृजनशीलता से नये-2 नवाचारों को उत्पन्न करके परम्परा को समृद्ध करता है।

संगीत के इस अनूठे नवोन्मेष में मंच प्रदर्शन का सर्वाधिक योगदान माना जा सकता है जिसका उल्लेख प्रासंगिक है।

मंच ऐसा स्थान विशेष है जहाँ एक या अनेक व्यक्ति एक साथ बैठकर अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। यह एक ऐसा केन्द्र बिन्दु है जहाँ कलाकार बैठकर सुविधापूर्वक श्रोताओं को अपनी कला का रसास्वादन कराता है। मंच के चारो ओर या सामने श्रोताओं के बैठने का स्थान आवश्यक रूप से होता है। इस प्रकार मंच का सम्बन्ध कलाकार तथा श्रोता दोनो से है। इस मंच पर श्रोताओं के समक्ष अपनी कला का प्रदर्शन करने के कारण इसे 'सम्मेलन' कहा गया है जिसका अर्थ मेल, मिलाप अथवा मेला से लिया जाता है।

भारतीय संस्कृति की परम्परायें मुख्य रूप से मौखिक रही है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी विरासत के रूप में प्रवाहित होती रही है। इन परम्पराओं के संरक्षण व

शोधार्थी (संगीत विभाग), वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

Scanned with CamScanner

सम्वर्धन में सदैव एक मंच की आवश्यकता रही है जहाँ लोग एकत्र होकर इस लक्ष्य की पूर्ति कर सकें। मंच छोटा या बड़ा, बन्द अथवा खुला किसी भी रूप में रहा हो, प्राचीन समय से आधुनिक समय तक लोगों के समूह को आकर्षित करके एक समारोह का स्वरूप प्रदान करता रहा है। हर काल में लोगों ने अपने मन के उद्‌गारों की अभिव्यक्ति के लिये हर विशिष्ट अवसरों पर वैचारिक व कलात्मक आदान-प्रदान हेतु मेल-मिलाप की परम्पराओं को विकसित किया है। कलात्मक आदान-प्रदान के अतिरिक्त मंचीय व्यवस्था ने समाज को एकता व भाईचारे के सूत्र में बांधने का महान कार्य किया है। इसी मेल मिलाप से मेलों, समारोहों एवं सम्मेलनों का स्वरूप निर्धारित हुआ। कालान्तर में ये विशेष समारोह उत्सवों त्यौहारों अथवा विभिन्न सांस्कृतिक गतिविधियों से जुड़कर परम्परा का निर्वाह करने लगे।

डॉ. विवेक का कथन है- ''संगीत को संस्कृति का सबसे महत्वपूर्ण अंग माना गया है, क्योंकि इसके माध्यम से हमने अपने वर्षों से अर्जित ज्ञान-विज्ञान, धर्म, दर्शन योग तथा समस्त कलाओं को जीवित रखा है। हर काल में आध्यात्मिक कार्यों में, हवन यज्ञ व अनुष्ठानों तथा आनन्द के क्षणों में संगीत ने अनिवार्य रूप से अपना योगदान प्रदान करके कार्यक्रमों को सफलता प्रदान की है। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि हर काल में किसी न किसी रूप में संगीत के समारोहों की स्वस्थ परम्परा रही है।''[1] इसी संदर्भ में डा. ममता जोशी का कथन भी प्रासंगिक है- ''जीवन के प्रत्येक शुभ एवं उल्लासपूर्ण अवसरों पर संगीत अभूतपूर्व आनन्द प्रदान करता रहा है। अन्तेष्ठि जैसे अवसादपूर्ण अवसरों पर भी सामगान किया जाता था। देवताओं को प्रसन्न करने के लिये संगीत की उपयोगिता रामायण में भी स्वीकार की गई है। महाभारत में भी संगीत का जो विकसित स्वरूप मिलता है। वह सराहनीय है। महाभारत काल में वैदिक तथा लौकिक दोनों प्रकार की संगीत प्रणालियों का समान रूप से प्रचलन था। गायक-वादक-नर्तक आदि कलाकारों को राज्य की ओर से पर्याप्त प्रोत्साहन प्राप्त था।''[2] इस प्रकार कहा जा सकता है कि संगीत की इस लम्बी यात्रा में लोगों का एकत्रित होना, मंच परम्परा अथवा संगीत समारोहों के आयोजनो की परम्परा स्वाभाविक रूप से हर काल में विद्यमान रही है। इन समारोहों ने कई पड़ाव देखे हैं। मध्यकाल में राजाओं ने अपनी अभिरूचि अथवा मनोरंजन के लिये इन समारोहों का राजकीय संरक्षण प्रदान किया। यद्यपि समारोहों की दृष्टि से ब्रिटिश काल अन्धकार का युग माना गया अपितु स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त पं विष्णुनारायण भातखण्डे तथा पं विष्णु दिगम्बर पलुस्कर आदि महान् संगीत की विभूतियों के प्रयत्न से संगीत का पुनःर्जन्म तथा उत्थान हुआ। इन्होने विभिन्न समारोहों के मंचन द्वारा संगीत को पुनः उसका प्रतिष्ठित स्थान दिलवाया।

इस मंचीय व्यवस्था अथवा संगीत सम्मेलन के विषय में डा. हुकुम चन्द लिखते हैं- ''सर्वप्रथम इनको 'समन' नाम से पुकारा जाता था। इसके उपरान्त ये 'समज्जा' के नाम से जाने जाने लगे। आज इनको 'संगीत सम्मेलन' के नाम से सम्बोधित करने की प्रथा है। संगीत समारोह इसका पर्यायवाची शब्द है''[3] भगवत शरण शर्मा लिखते हैं- ''आधुनिक समय में इन संगीत सम्मेलनों ने संगीत के प्रचार तथा प्रसार में विशेष भूमिका निभाई है। इस युग में संगीत सम्मेलनों को आयोजित करने की परम्परा बहुत विकसित हुई है। सर्वप्रथम संगीत सम्मेलन 1916 ई. में बड़ौदा के महाराज सयाजीराव गायकवाड़ की संरक्षता में, दूसरा सन् 1917 ई. में दिल्ली में रामपुर के नवाब की संरक्षता में, तृतीय 1917 ई. में बनारस में, चतुर्थ तथा पंचम क्रमशः 1926 तथा 1926 ई. में लखनऊ में सम्पन्न हुआ।''[4] यद्यपि आरम्भ में इन संगीत सम्मेलनों में संगीत-विषयक चर्चाओं का आधिक्य रहा अपितु धीरे-2 इन सम्मेलनों में शास्त्रीय संगीत के कलाकारों ने अपने संगीत के मंचीय प्रदर्शन द्वारा पूरे भारतवर्ष में संगीत का प्रचार व प्रसार कर दिया।

आधुनिक समय में त्यागराज, तानसेन व स्वामी हरिदास जैसे ख्यातिप्राप्त संगीतकारों, विष्णु दिगम्बर, भातखण्डे तथा आचार्य बृहस्पति जैसी महान् विभूतियों की स्मृति में हमारी संगीत की संस्थायें वार्षिकोत्सव आयोजनों के मंचन में संलग्न है। आधुनिक समय में सरकार की ओर से भी इन मंच प्रदर्शनों को

Scanned with CamScanner

वित्तीय सहायता प्रदान की जाती है। आकाशवाणी संगीत सम्मेलन, हरिवल्लभ संगीत सम्मेलन, ध्रुपद सम्मेलन, मल्हार उत्सव, बसंतोत्सव आदि अनेकानेक संगीत सम्मेलन मंच प्रदर्शन के अनुपम उदाहरण हैं।

संगीत के प्रदर्शन हेतु मंचीय परम्परा का विकास बहुत प्राचीनकाल से हो गया था। आज के युग में अनेकानेक बदलाव आ जाने से प्रदर्शन के बहुत से ढंग विकसित हो चुके हैं तथापि मंचीय व्यवस्था फिर भी ज्यों की त्यों है। भले ही मंच रेडियों अथवा आकाशवाणी केन्द्रों ने अपना लिये हों। मंच का फिर भी अपना महत्व विशेष है। छोटा या बड़ा, सीमित या असीमित, मंच किसी भी रूप में रहा हो यह हर प्रकार से प्रदर्शन के लिये अनिवार्य है। मंच के बिना प्रदर्शन सम्भव ही नहीं। वस्तुतः आज हम जिस सांगीतिक धरातल पर हैं वह मंच की ही देन है। मंच ने ही संगीत प्रदर्शन द्वारा संगीत के सृजनात्मक तत्वों को प्रेरित किया है जिसका उल्लेख निम्नलिखित नवोन्मेष के बिन्दुओं से स्पष्ट हो जाता है।

1. संगीत के क्षेत्र में घरानों की भूमिका अग्रगण्य रही है। यद्यपि संगीत के घरानों अथवा परम्पराओं में परस्पर स्पर्धा या मनमुटाव का बोलबाला रहा है और इस कारण ये लोग परस्पर बंटे भी रहे हैं तथापि यह सत्य है कि घरानो के संस्थापकों व अनुयायियों ने अपनी पारम्परिक कला-सम्वर्धन व संरक्षण का दायित्व पूरे मनोयोग से निभाया है। घरानों ने ही एक रसता से हटकर संगीत में विविधता का सृजन किया है। यही कारण है कि घरानो से सृजनात्मक तत्वों का विस्तृत भण्डार परिलक्षित होता है। घरानों के इन अनमोल सृजनात्मक कार्यों की स्थापना, मान्यता तथा मूल्यांकन का श्रेय मंच को जाता है जहाँ विविध घरानों के कलाकारों को अपनी विशिष्ट योग्यता के प्रदर्शन का अवसर मिलता है। संगीत तो एक विशाल सागर है जिसका सम्पूर्ण ज्ञान असम्भव है तथापि घरानेदार लोग किसी विशेष साधना द्वारा संगीत के किसी एक पक्ष को इतना साध लेते हैं कि वह उस घराने की विशेषता बन जाती है। इसी एक विशेषता के बल पर घराने का नाम हो जाता है। मंच ने विविध घराने के कलाकारों को एक स्थान पर एकत्रित करके उनकी सृजनात्मक प्रतिभा को सबके सामने रख दिया। घराने को स्थापित करने में बड़ा संघर्ष करना पड़ता है। उसके कलाकार को अपनी सृजनात्मक प्रतिभा का किसी मंच के माध्यम से मूल्यांकन करके उसे मान्यता प्रदान करना आवश्यक है। कलाकार जिस भी सांगीतिक पक्ष को साधता है, मंच के माध्यम से श्रोताओं द्वारा उसकी सृजनात्मक कला का परीक्षण किया जाता है। परीक्षण में सही उतरने पर उसे घरानेदारी के रूप में स्वीकार किया जाता है। मंच इस सृजनात्मक प्रतिभा को उभारने में रचनात्मक योगदान करता है।

2. मंच प्रदर्शन में कलाकार व श्रोताओं के मध्य एक पवित्र सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। श्रोता कलाकार के लिये प्रेरणा के स्त्रोत माने जाते है। उनकी रूचि और ज्ञान क्षमता के अनुरूप संगीत प्रदर्शन का अनुकूल प्रभाव पड़ता है। एक मंच पर विभिन्न कलाकारों को सुनने के बाद श्रोता उनसे व्यक्तिगत रूप से जुड़ जाते हैं जिससे मनपसन्द के कलाकारों को अन्य स्थानो तथा घर पर भी बुलाया जाता है। इससे मंच द्वारा ही गुरू शिष्य परम्परा के विकास को बल मिलता है। सर्वविदित है कि उच्च स्तरीय कलाकार जैसे पं. रविशंकर, उस्ताद विलायत अली खां, उस्ताद अमीर खां, प. भीमसेन जोशी, पं. हरिप्रसाद चौरसिया, प्रवीण सुल्ताना, उस्ताद अमजद अली, उस्ताद बिस्मिल्ला खां आदि महान कलाकार मंच प्रदर्शन के कारण ही विख्यात हुये हैं तथा इसकी सृजनात्मक प्रतिभा से प्रभावित होकर इनके हजारों शिष्य शिक्षित हुये हैं।

यह मंच का ही परिणाम था जिसने गुरू-शिष्य परम्परा ने नवीन आयाम खोजकर संगीत के सृजन व नवोन्मेष में महत्वपूर्ण योगदान किया।

3. मंच प्रदर्शन में सर्वाधिक विशेष महत्व इस बात का है कि संगीत विद्या के हरेक कलाकारों को मंच पर एक साथ देखा जा सकता है। इससे कार्यक्रम की रोचकता बढ़ जाती है। गायन, वाद्य वादन, तबला वादन तथा नृत्य के कलाकारों को एक साथ मंच पर देखकर श्रोताओं को एक बहुरंगी कार्यक्रम देखने-सुनने को मिलता है। कलाकारों की एकल तथा सामूहिक रूप से प्रस्तुति, विभिन्न वाद्यों को एकल तथा वाद्य-वृन्द के रूप में अथवा संगत के रूप में सुनने को मिलती है। कलाकारों, कार्यक्रमों

Scanned with CamScanner

अथवा रागों की पुनरावृति भी नही होती। जिससे कार्यक्रम में विविधता, नवीनता व रोचकता का साम्राज्य रहता है। मंच प्रदर्शन में कलाकार श्रोताओं के समक्ष अपनी सम्पूर्ण कलात्मक प्रतिभा का परिचय देने का अपनी सम्पूर्ण क्षमता के अनुसार प्रयत्न करते हैं। कलाकार बिना कुछ छुपाये अर्जित की हुई समस्त विद्या का प्रदर्शन पूरे मनोबल से करते हैं। जिससे उनकी सृजनात्मक प्रतिभा का सहज परिचय मिल जाता है। मंच व्यवस्था में कलाकार श्रोताओं के मनोभावों का सम्मान करते हुये उनकी रूचि या अरूचि को ध्यान में रखकर प्रदर्शन करते हैं। श्रोताओं की फरमाईश पर नवीन रचनाओं को प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार मंच प्रदर्शन में श्रोताओं और कलाकार के बीच एक सृजनात्मक-सेतु का निर्माण हो जाता है।

4. मंच प्रदर्शन में नवीन प्रयोगों को सदैव प्रोत्साहन मिलता है। कलाकार द्वारा नये-2 रागों का प्रदर्शन, रागों की नवीन रचनाये, अछोप तथा अप्रचलित रागों का प्रदर्शन, अनेक तालों का प्रदर्शन तथा अनेक वाद्य यन्त्र का प्रदर्शन आदि बाते बहुत महत्वपूर्ण रहती हैं। संगीत की यह विविध सामग्री संगीत में नवोन्मेष का संचार करके अत्यन्त ज्ञानवर्धक हो जाती है। श्रोताओं को मनोरंजन के साथ अनेक नवीन बातों का ज्ञान हो जाता है। कलाकार अपनी विशेष साधना से श्रोताओं को बार-2 प्रभावित करते हैं। कोई कलाकार आलापचारी में कोई गमक में तो कोई तान की विशेष तैयारी में दक्ष होता है। कोई आलाप से भावुकता संचार करता है तो कोई कलात्मक व चमत्कृत कार्यों से प्रभावित करता है। इस प्रकार अलग-2 विशेषताओं के सृजन से संगीत का एक सुन्दर गुलदस्ता बन जाता है जिससे हर प्रकार आनन्द की प्राप्ति होती है। यह मंच की एक बहुत बड़ी उपलब्धि है जो नवोन्मेष की ओर प्रेरित करती है।

5. मंच प्रदर्शन में विविधता रहती है। इसमें हर पक्ष का कलाकार हर वाद्य-यन्त्र तथा हर रचना अपने नवीनतम स्वरूप में प्रगट होती है। मल्हार उत्सव में मल्हार के प्रकारों का प्रदर्शन होता है। इसी प्रकार वसन्तोत्सव पर वसन्त ऋतु सम्बन्धी अनेकानेक रचनायें प्रदर्शित की जाती है, इस विविधता व नवीनता से ही रोचक वातावरण का निर्माण हो जाता है जो संगीत सृजनशीलता की पराकाटा को दर्शाता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि संगीत की इस लम्बी यात्रा में मंचीय व्यवस्था ने संगीत की नवीनता व विविधता को अनेकानेक आयाम देकर इसे अत्यन्त समृद्ध किया है जिससे संगीत में नवोन्मेष के द्वार का मार्ग परास्त हुआ है।

सन्दर्भः-

1. शर्मा डॉ. विवेक (2018), जालन्धर की सांस्कृतिक पीठिका में संगीत की विकासधारा, D.Lit Then's HDU
2. जोशी डॉ. ममता (2011), भारतीय संगीत में हरिवल्लभ संगीत सम्मेलन का प्रभाव, पृष्ठ-11
3. चन्द डा. हुकुम (2005), आधुनिक काल में शास्त्रीय संगीत, पृ. 144
4. शर्मा भगवत शरण (1983), भारतीय संगीत का इतिहास, पृ. 130

Scanned with CamScanner

बौद्ध वाङ्मय एवं स्तूपों में उद्भूत संगीत कला एक अवलोकन

डा0 नमिता यादव

भारतीय सांस्कृतिक धरोहर के परिज्ञान के लिऐ बौद्ध वाङ्मय और बौद्धकालीन स्तूपों का परिशीलन नितान्त आवश्यक है। बौद्ध वाङ्मय में ईसवी पूर्व में लेकर इंसवी के अनन्तर का सांस्कृतिक मानचित्र अविच्छिन्न रूप से उपलब्ध होता है। इस साहित्य में उपलब्ध संगीत विषयक सामग्री का व्यक्तिकरण भारत की प्राचीन शिल्प एवं चित्र कला में उपलब्ध है। बौद्ध वाङ्मय में उपलब्ध संगीत का परिशीलन केवल बौद्ध लोग ही नहीं करते थे अपितु यह संगीत सारे भारतीय समाज की निधि था। बौद्ध काल में तक्षशिला विद्यादान का प्रमुख केन्द्र था, जिसमें वैदिक विद्यालय, अष्टपदा विद्यालय, शिल्प विज्ञान विद्यालय आदि विभिन्न अध्ययन विभागों में पाँच-पाँच सौ विद्यार्थी शिक्षा पाते थे।[1] परोपहस्स जातक के अनुसार, बोधिसत्व ने इसी विश्वविद्यालय में समस्त शिल्पों की शिक्षा प्राप्त की थी। वाराणसी इस समय का दूसरा विद्याकेन्द्र था, जिसमें संगीत के अध्ययन हेतु स्वतन्त्र विभाग था। नालन्दा, विक्रमशिला तथा तदन्तपुरी जैसे अन्य विश्वविद्यालयों में भी गान्धर्व का स्वतन्त्र निकाय था।[2] संगीत के लिये 'गन्धर्ववेद' अथवा गान्धर्ववेद संज्ञा थी, जिसके अन्तर्गत, गीत, वाद्य, नृत्य, अख्यानम आदि का समावेश था। अख्यान के अन्तर्गत प्राचीन आख्यान तथा वीरगाथाओं का गायन सम्मिलित था।[3] इनकी गणना सिप्प अथवा शिल्प में की जाती थी।

बौद्ध वाङ्मय में जातक कथाओं में यत्र-तत्र संगीत विषयक वर्णन बिखरा पड़ा है। जातक वे ग्रन्थ हैं जिनमें बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथाएँ हैं। इन्हीं जातकों के आधार पर बहुत सी कथाएँ भारहुत और साँची, अमरावती और नागार्जुन कोण्डा के स्तूपों पर उद्धृत हैं। बौद्ध वाङ्मय और भारहुत, साँची, अमरावती और नागार्जुन कोण्डा के स्तूपों द्वारा संगीत-सामग्री से मौर्यकाल से लेकर गुप्तकाल के प्रारम्भ तक के भारतीय संगीत का दिग्दर्शन हमें मिल जाता है।[4]

संगीत और नृत्य के लिए प्रायः सिप्प (शिल्प) शब्द का प्रयोग हुआ है। कंठ संगीत के लिए 'गीत' शब्द मिलता है और वाद्य के लिए प्रायः 'वादित' (वादित्र) शब्द मिलता है। गाने वालों के लिए प्रायः गन्धर्व शब्द और नाचने वालों के लिए 'नरनच्चका' शब्द प्रयुक्त हुआ है। तत्कालीन सम्पन्न परिवारों में संगीत का सम्यक् अध्ययन किया जाता था। ललित विस्तर में लिखा है कि बुद्ध की माता माया देवी स्वयं कलानिपुण थीं। सिद्धार्थ के लिये ऐसी वधू की अपेक्षा थी, जो गणिका के समान कलाकुशल हो ''शास्त्रे विधिज्ञकुशला गणिका यथैव''।[5] बुद्ध चरित से स्पष्ट है कि तत्कालीन अन्तःपुरों में महती, वीणा, मृदंग, पणव, तूर्य, वेणु आदि वाद्यों का वादन तथा गायन मनोरंजनार्थ किया जाता था। पिता पुत्र समागम नामक कथा में उल्लेख है कि बुद्ध के जन्मोत्सव पर पाँच सौ वाद्यों का वृन्दवादन हुआ था।[6]

जातक ग्रन्थों में तत्कालीन व्यवसायों की सूची उपलब्ध है जिसमें नट, नर्तक, गायक, भेरीवादन तथा नाटककार आदि वर्गों का समावेश है।[7] इनके विभिन्न संघ हुआ करते थे तथा इनके लिए नगर में स्वतन्त्र उपनिवेश की व्यवस्था थी। नर्तिका एवं गणिकाओं का संगीतज्ञ के रूप में विशेष सम्मान

असिसटेन्ट प्रोफेसर, संगीत गायन, राजर्षि टण्डन महिला महाविद्यालय, संगठक इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

Scanned with CamScanner

था। सुमंगल विलासिनी ग्रन्थ के अनुसार काशी नरेश के अन्तःपुर में अनेक नर्तकियों को नियुक्त किया गया था।[8]

गणिकाओं को विशेष सम्मान प्राप्त था। गणिका संस्था की सामाजिक उपादेयता को ध्यान में रखकर उसको अक्षुण्ण रखते हुए समाज प्रतिकूल न होने के सम्बन्ध में बौद्ध वाङ्मय अधिक ध्यान देता है।

बौद्ध युग में नाटक अथवा नाटक के लिए पेक्खा अथवा प्रेक्षा संज्ञा थी। नाटक के दिग्दर्शन को नटाचार्य कहा जाता था। प्रमुख नट के लिए 'नटगामणि' संज्ञा थी। नट वर्ग समाज के समक्ष रंग भूमि पर विविध अभिनयों से जनता का मनोरंजन करते थे। ''योसो नटो रंगमज्झे समज्जमज्झे सच्चालिकेन जनमु हासेति रमेति''।[9] बौद्ध काल में संगीत तथा नाट्य को राजाश्रय प्राप्त था। मिलिपदण्ह में राजसभा के अन्तर्गत 1600 नर्तकियों के नियुक्त होने का उल्लेख है।

बौद्ध काल में लोकोत्सवों पर गीत, वाद्य, नृत्य की त्रिवेणी प्रवाहित होती थी। मगध में होने वाले ऐसे उत्सवों का निरूपण फाहियान के यात्रा विवरण में पाया जाता है। ऐसे सामूहिक उत्सव 'समज्जा' अथवा समाज कहलाते थे। अशोक के अभिलेखों से प्रमाणित है कि ऐसे समारोह नियमित रूप से आयोजित होते थे।

बौद्ध साहित्य में तत् वितत तथा सुषिर इन चतुर्विध वाद्यों का प्रचुर उल्लेख पाया जाता है। तत वाद्य के अन्तर्गत निम्न वाद्यों का नामनिर्देश उपलब्ध है वीणा, परिवादिनी, विपंची, वल्लकी, महती, नकुली, कच्छपी तथा तुम्बवीणा। वीणा तत वाद्यों के लिए सामान्य संज्ञा थी। गुत्तिल जातक से यह पता चलता है कि वीणा की मार्जना भिन्न-भिन्न स्वरस्थानों में होती थी। मुसल वैणिक के विषय में कहा गया है। 'उत्तम मुच्छनाय मुच्छेत्वा वादेति' अर्थात् वह उत्तम मूर्च्छना में मिला कर बजाता है। दीर्घ निकाय में कहा गया है कि इस वाद्य के साथ गाये गये सुमधुर संगीत ने बुद्ध देव जैसे वीतराग महात्मा को प्रभावित किया था।[10]

आचार्य सूत्र II, II 2 में निम्नलिखित वाद्यों का उल्लेख हुआ है-वीणा, वेपमेइ, वदवीसक, तुणव, पानक, तुम्बवीणक। इनके अतिरिक्त निम्नलिखित वाद्यों का भी यत्र-तत्र उल्लेख हुआ है। पाणिस्सर, सम्मताल, कुम्भथुण, भेरी, मूतिगा आलम्बर, आनका, संखा, पणवदेण्डिमा, खरमुखम, गोधापरिवादेन्तिका, कुटुम्बतिण्डानि। पणिस्सर, पाणिस्वर का अपभ्रंश जान पड़ता है। सम्मताल झाँझ का प्रकार था। कुम्भथुण कुछ बर्तनों में पानी भर कर बजाया जाता था। यह जल तरंग का पूर्वरूप जान पड़ता है। 'भेरि' भेरी का विकृत रूप है। भेरी का वर्णन रामायण-काल के संगीत वाले अध्याय में आ चुका है। 'मूर्तिगा' कोई लोक वाद्य था। आलम्बर वैदिक-काल के 'आडम्बर' वाद्य का विकृत रूप है। 'संखा' शंख का बहुवचन है। शंख में एक नली लगा कर बजाते थे। यह शंख वाद्य भारहुत और साँची के स्तूपों पर भी उद्धृत है। पनवेदण्डिमा 'पणव' तथा डिण्डिम का ही कोई रूप रहा होगा। गोमुख, खरमुख, सिंहमुख इत्यादि तुरही जैसे वाद्य थे। 'गोधापरिवादेन्तिका' सम्भवतः वीणा का कोई प्रकार था। आचारांग सूत्र प्प्ए प्प्ए 4 से पता चलता है कि वेणु (बाँसुरी) का पर्याप्त प्रचार था। भारहुत और सांची के स्तूपों पर एक साथ दो वेणु बजाने वाले चित्र उद्धृत हैं। बौद्ध-ग्रन्थों से पता चलता है कि मधुर स्वरों में गाथाएँ वीणा वेणु और मृदंग के साथ बौद्ध भिक्षु गाते थे।[11]

नृत्य जातक में नृत्य का वर्णन है। इसके दृश्य भारहुत और साँची के स्तूपों पर उद्धृत है।

कुछ और जातकों में सामान्य रूप से संगीत का उल्लेख हुआ है किन्तु उनमें संगीत-सम्बन्धी विशेष सामग्री नहीं मिलती है।

बोधिसत्तावदान कल्पलता-बौद्ध-वाङ्मय में एक विशाल 'अवदान' भी है जिसमें कई ग्रन्थ हैं। अवदानों में भी बोधिसत्व के अद्भुत कार्यों का वर्णन है। अवदानों में भी यत्र-तत्र संगीत-विषयक वर्णन मिलता है। इसके 80 पल्लव में 24, 26 लोक में गन्धर्वराज की सहस्रराज वीणा का उल्लेख है। महावस्तु में जो गाथाएँ आई हैं उन्हें बौद्ध भिक्षु स्वरों में वाद्य सहित गाते थे।

ललित विस्तर-जातक इत्यादि ग्रन्थ पालि में हैं। ललित विस्तर संस्कृत में लिखा गया है। इसमें भेरी, मृदंग, पणव, तूणव, वीणा, वेणु, वल्लकी इत्यादि वाद्यों का उल्लेख है। नया वाद्य जिसका उल्लेख हुआ है वह घण्टा है। इसमें गीत, वाद्य, तूर्य, तालावचर

Scanned with CamScanner

और संगीत का उल्लेख हुआ है। ललित विस्तर में गाथाओं का भी उल्लेख है जो कि स्वर में गाई जाती थीं। उत्तरी भारत में कई बौद्ध स्तूप, चैत्य इत्यादि पर उद्‌भूत दृश्य और जावा के बोरोबुदुर के मन्दिरों में चित्रित दृश्य ललित विस्तर के आधार पर बनाये गये हैं।

लंकावतारसूत्र-यह महायान का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। रावण का वर्णन करते हुए लंकावतारसूत्र में एक महत्त्वपूर्ण संगीत-विषयक जानकारी दी है। इस सूत्र में-वीणा वर्णन, स्वरों के नाम, ग्राम-मूर्च्छना-गाथा गाना, वीणादण्डि इत्यादि का उल्लेख मिलता है।[12]

भारत के प्राचीन संगीत के विषय में जानकारी प्राप्त करने के तीन मुख्य साधन हैं। 1. संगीत पर किसी संगीतज्ञ का लिखा हुआ ग्रन्थ, 2. प्राचीन वाङ्मय जिसमें संगीत का उल्लेख हुआ हो, 3. स्तूपों, मन्दिरों इत्यादि में उद्‌भूत (उभरे) दृश्य अथवा अलग से बने हुए संगीत-सम्बन्धी चित्र।

अभी तक हमने बौद्धकालीन वाङ्मय में उस समय के विषय में कुछ जानकारी प्राप्त की है। अब उद्‌भूत दृश्यों के द्वारा यह जानने की चेष्टा करेंगे कि उस काल में कौन-से वाद्य प्रयोग में थे। इस प्रकार के दृश्य विशेषकर भारहुत, साँची, अमरावती और नागार्जुनकोण्ड के स्तूपों पर उद्‌भूत मिलते हैं।

भारहुत-प्रयाग से दक्षिण-पश्चिम लगभग 95 मील पर भारहुत अथवा भरहुत में एक सुन्दर बौद्ध स्तूप था जिसके अब अवशेष-मात्र रह गये हैं। किन्तु उसके कई फलक सुरक्षित रखे हुए हैं। एक फलक में नर्तकियों और वृन्द वादन का दृश्य है। बाई ओर दो स्त्रियाँ कोण से वीणा बजा रही है। ये वीणाएँ धनुषाकार हैं अतः ये सम्भवतः विपंची वीणाएँ हैं। बाई ओर एक स्त्री मँजीरा व एक स्त्री म दंग बजा रही है, जो कि आंकिक मृदंग है। यह बायें हाथ से आंकिक म दंग दायें हाथ से उर्ध्वक मृदंग बजा रही है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राचीन बौद्ध काल में नृत्यकला पूर्णरूप से प्रचलित थी। ताल वाद्य (मँजीरा) विपंची वीणा और आंकिक, उर्ध्वक और आलिंग्य वाद्य प्रचार में थे।

भरहुत की एक अन्य मूर्तिकला में बन्दरों को वृन्द वादन करते दिखलाया गया है। ये बन्दर नलीयुक्त शंख फूँकते हुए, भेरी बजाते हुए दर्शाये गये हैं।

एक अन्य दृश्य में बन्दर हाथी पर चढ़े हुये कुछ वाद्य बजा रहे हैं ये बन्दर बाँस के दण्ड वाली खूँटीयुक्त वीणा बजा रहा है। उसके पीछे एक बन्दर ताल दे रहा है। ये वीणा सम्भवतः एकतन्त्री वीणा है। हाथी की सूँड से लटका बन्दर हुडुक्क बजा रहा है। अन्य बन्दर नलीयुक्त शंख व भेरी बजा रहे हैं।

साँची-मध्य प्रदेश की विदिशा दक्षिण पश्चिम की ओर छः मील की दूरी पर साँची स्थित है। साँची के स्तूप पर भी कुछ उद्‌भूत दृश्य है जो यह बतलाते हैं कि प्राचीन समय में किन वाद्यों का प्रचार था। एक वृन्द वादन दृश्य में आड़ी वंशी बजाते वादक, गले में पटह (ढोलक बजाता) वादक एक वादक अवनद्ध वाद्य तीली से बजाता हुआ, एक दण्डताल बजाता हुआ व एक अन्य वादक झल्लरी (झाँझ) बजाता दिखाया गया है।

साँची के स्तूप व दूसरा संगीत सम्बन्धी उद्‌भूत दृश्य इस प्रकार है। नीचे दाहिनी ओर एक स्त्री के पास आंकिक मृदंग है। पास में खड़ा मृदंग है इस स्त्री के ऊपर दाहिनी ओर अन्य स्त्री विपंची वीणा बजा रही है। सबसे ऊपर खड़ी स्त्री आड़ी वंशी बजा रही है।

अमरावती-अमरावती दक्षिण में कृष्णा नदी के मुख के पास स्थित है। यहाँ के स्तूप पर उकेरे गये संगीत के दृश्य मिलते हैं। एक दृश्य में स्त्री सरोद की आकृति की वीणा बजा रही है। इसमें सात तार होते थे जो खूँटियों के द्वारा एक लकड़ी के कायतल पर ऊपर से नीचे की ओर जाते थे इससे स्पष्ट है कि बौद्ध काल तक चित्र वीणा प्रचार में आ गई थी। अन्य स्त्री आड़ी वंशी बजा रही है।

नागार्जुनकोण्ड-दक्षिण भारत में ही नागार्जुनकोण्ड नामक प्रसिद्ध स्थान है। यहाँ भी बौद्ध काल सम्बन्धी कई दृश्य मिले हैं। एक अवनद्ध वादक की मूर्ति मिलती है। यह स्पष्ट नहीं है कि यह किस प्रकार का अवनद्ध वाद्य है। एक दृश्य में स्त्री चित्र वीणा बजा रही है। दूसरे दृश्य में स्त्री विपंची वीणा बजा रही है। इन वाद्यों का आकार बहुत स्पष्ट रूप से उभरा है।

बौद्ध वाङ्मय और बौद्ध स्तूपों पर उद्‌भूत दृश्यों को देखने से यह पता चलता है कि संगीत के

Scanned with CamScanner

वैदिक तथा लौकिक दोनों पक्षों का प्रचलन था। सामवेद की शिक्षा वैदिक अध्ययन के अन्तर्गत मानी जाती थी तथा गान्धर्व का अन्तर्भाव शिल्प में किया जाता था। बौद्ध काल में संगीत के अन्तर्गत स्वर, ग्राम मूर्च्छना के साथ रागों का प्रचलन आरम्भ हो चुका था। शास्त्रीय रागों के प्रथम बौद्ध गायक चौरासी ब्रजारण थे और तान्त्रिक भी। इनकी संख्या चौरासी थी जिनमें से प्रथम भिक्षु को सरहण नाम से सम्बोधित करते थे। ये सिद्ध विभिन्न रागों में पद्य रचना किया करते थे।[13] बौद्ध वाङ्मय और कला विशेषरूप से मौर्य, कण्व, शुंग और आन्ध्रों के राज्य काल में पनपी बौद्ध वाङमय में वर्णित संगीत और भारहुत साँची, अमरावती और नागार्जुनकोण्ड के स्तूपों पर उद्भूत वाद्यों का सम्बन्ध उपर्युक्त काल से रहा। अतः हम इसे उपर्युक्त काल का संगीत कह सकते हैं।

संदर्भः

1. जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पृ0 18।
2. द्र0 'एन्सिएन्ट इण्डियन एजुकेशन' राधाकुमुद मुखोपाध्याय, पृ0 490, यूनिवर्सिटी ऑफ नालन्दा, डॉ0 संकलिया उद्धत संगीत औ संस्कृति।
3. दीर्घ निकाय 1, पृ0 6।
4. भारतीय संगीत का इतिहास, डॉ0 ठाकुर जय देव सिंह, पृ0 237।
5. ललित विस्तर 12 पृ0 159 चकराता पृ0 127, 139।
6. अर्थ पाद0, पृ0 152 वापट।
7. भारतीय संगीत का इतिहास - परांजपे, पृ0 172।
8. लाकृत 'ट्राइब्स ऑफ इन्सिचेट इण्डिया' 1943, पृ0 110।
9. ग्रामणिसंयुत्त 4, पृ0 306 हिस्ट्री ऑफ संस्कृत एरिक्स - काणे, पृ0 323।
10. भारतीय संगीत का इतिहास - डॉ0 पराजपे, पृ0 174।
11. भारतीय संगीत का इतिहास - ठाकुर जयदेव सिंह, पृ0 238, 239
12. भारतीय संगीत का इतिहास, ठाकुर जयदेव सिंह, पृ0 244, 245।
13. मतंग से पूर्व राग की अवधारणा एवं विकास - डॉ0 नमिता यादव, पृ0 34।

Scanned with CamScanner

मिथिलांचल का पर्व सामा-चकेवा

डॉ० सुरेन्द्र कुमार राम

'सामा-चकेवा' मिथिलांचल में प्रचलित एक विशिष्ट पर्व है। यूं तो देवोत्थान एकादशी के साथ कार्तिक मास में धनतेरस, काली पूजा, लक्ष्मी पूजा, गोधन, भ्रातृ द्वितीया, छठ इत्यादि के साथ लगातार चले आ रहे पर्वों का विश्राम माना जाता है, किन्तु सही मायने में इसका समापन शारदीय आकाश के स्वच्छ, सौम्य, सुन्दर, धवल चन्द्रमा के बीच पूर्णिमा के दिन गुरू भक्ति, गंगा-स्नान और रात्रि में 'सामा चकेवा' के खेल से होता है। प्रेम और गीतात्मक अनुभूति के फूटते स्वर लहरियों के बीच रागात्मक संबंधों का एहसास दिलाता लोकपर्व 'सामा चकेवा' उत्तरी भारत के साथ-साथ नेपाल की संस्कृति का भी अभिन्न अंग है।

लोक पर्व 'सामा चकेवा' मूर्तिकला, चित्रकला और संगीत कला की ऐसी त्रिवेणी है, जिनसे नारी सशक्तिकरण, पर्यावरण सुरक्षा और जीवन मूल्यों की प्रेमल धारा प्रवाहित होती है। यह पर्व पक्षियों के प्रति उत्तरी भारत की महिलाओं के प्रेम को दर्शाता है, पक्षियों के संरक्षण का संदेश देता है। रंग-बिरंगे पक्षी प्रकृति के सौन्दर्य मात्र ही नहीं, जीवन की गति भी है।

'सामा-चकेवा' उत्तर बिहार के मिथिला क्षेत्र का अत्यंत मनोरंजक लोकनाट्य है। मिथिला में यह क्षेत्रीय बोली के अनुसार 'सामा-चकेवा' के नाम से जाना जाता है। यह लोकनाट्य वस्तुतः भाई-बहन के पारस्परिक प्रेम एवं स्नेह को प्रतिपादित करता है। इस नाट्य के काव्य एवं कथानक में एक नवीनता है साथ ही इसके प्रस्तुतिकरण में भी एक नयापन है। यह पूर्ण रूप से स्त्रियों का लोकनाट्य है। मिथिला की स्त्रियां इसे बड़े ही उत्साह और उल्लास के साथ प्रस्तुत करती है। पुरूष की उपस्थिति इस नाट्य में नहीं के बराबर होती है। यहां तक कि इस लोकनाट्य के दर्शकों में भी अधिकतर स्त्रियां ही होती है। इस नाट्य को बिना किसी विशेष तैयारी के मिथिला की ग्रामीण स्त्रियां प्रस्तुत करती हैं। रामलीला एवं रासलीला को छोड़कर मात्र सामा चकेवा ही एक ऐसा लोकनाट्य है जिसकी प्रस्तुति एक दिन मे न करके कई दिन में की जाती है। नाटक प्रस्तुतिकरण की प्रक्रिया को ग्रामीण भाषा में 'नाटक खेलना' कहते हैं। अतः लोकनाट्य सामा-चकेवा का आरंभ कार्तिक शुक्ल पंचमी से होता है तथा इसकी समाप्ति पूर्णिमा के दिन की जाती है। पंचमी से लेकर पूर्णिमा तक ग्रामीण स्त्रियां प्रतिदिन इसे खेलती है अर्थात् प्रस्तुत करती है। अतः कथा, पात्र एवं प्रस्तुतिकरण की दृष्टि से भी यह लोकनाट्य, परंपरागत अन्य लोकनाट्यों तथा विदेसिया लोरिकाइन, सलहेस, आल्हा-ऊदल आदि से बिल्कुल भिन्न है।

इस नाटक के प्रमुख पात्र हैं सामा और चकेवा। सामा स्त्री पात्र है जो बहन की प्रतीक है और चकेवा पुरूष पात्र है जो भाई का प्रतीक है। इन दो पात्रों के अतिरिक्त चुगला (चुगलखोर व्यक्ति), सतभइया (सात भाई), वृन्दावन, खंजन पक्षी, ढोलिया (ढोल बजानेवाला), भरिया (कंधे पर बहंगी में सामान उठाने वाला) एवं झांझी कुत्ता। अन्य सभी लोकनाट्यों से अलग इस लोकनाट्य की एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि स्त्रियां नाटक के इन सभी पात्रों को मिट्टी, लकड़ी, सन (पटुआ), सीकी (एक प्रकार

पूर्व शोधछात्र, वि०वि० संगीत एवं नाट्य विभाग, ल० ना० मि० वि० वि०, दरभंगा

Scanned with CamScanner

का पतली लचीली लकड़ी जिसे बीनकर बर्तन बनाये जाते है) आदि से मूर्ति बनाती है। सामा एवं चकेवा पात्र के लिए मिट्टी से पक्षी की मूर्ति बनायी जाती है इन दोनो पक्षियों की मूर्ति का मुख अत्यंत सुन्दर बनाया जाता है। चुगला की मूर्ति को एक हास्यास्पद रूप दिया जाता है जिसे एक बार देखते ही हंसी आ जाए। उसके मुख में लंबी, काली और घनी मूंछे भी लगाई जाती है। इसका मुख मिट्टी का एवं शरीर सीका का बनाया जाता है। 'सतभइया' के लिए सात तोते की मूर्ति बनाकर एक साथ जोड़ दिया जाता है तथा एक लकड़ी के टुकड़े पर उन्हें बैठा दिया जाता है वृन्दावन की आकृति मे मुख के लिए मिट्टी एवं शरीर के लिए लकड़ी एवं सन का प्रयोग किया जाता है। डोलिया पात्र के लिए एक व्यक्ति की मूर्ति बनायी जाती है। इसके अतिरिक्त एक कुत्ते की भी मूर्ति बनायी जाती है। जिसे नाटक में झांझी कुत्ता कहते है। सामा-चकेवा के इन पात्रों को बनाकर सुन्दर रंगों से इसे रंगा जाता है। रंगने के बाद बांस की बनी एक रंगीन टोकरी में (जिसे मिथिला में या मैथिली भाषा में चंगेरा कहते हैं) रखा जाता है। उस टोकरी में एक दीप जलाकर भी रखा जाता हैं तत्पश्चात रात में लगभग आठ बजने पर सभी घरों की स्त्रियां एक स्थान पर एकत्रित होती है, हाथ में वह मूर्तियों की टोकरी होती है और तब सभी एक साथ गीत गाती हुई निकलती हैं -

"डाला ले बहार भैली बहिनी से फलां बहिनो
फलां भइया लेल डाला छीन सूनू राम सजनी
बाबू बरइता, चाचा बरइता,
अहाक पूता लेल डाला छीन सूनू राम सजनी।
कथी एक तोहर डलवा गे बेटी कथिए लगाओल
चारू कौन सूनू राम सजनी,
कौंचहि बास के मोर डलवा हो बाबा
चम्पा चमेली चा कौन सूनू राम सजनी।"

गीत गाती इन युवतियों एवं स्त्रियों का समूह गांव से निकलकर थोड़ी दूर स्थित किसी जुते हुए खेत या किसी तालाब के किनारे एकत्रित होता है। अधिकांशतः तालाब के किनारे टीलानुमा स्थान पर ही स्त्रियां एकत्रित होती है। वहां वे गोल घेरा बनाकर बैठती है तथा मध्य में साथ लाए बांस के टोकरे को रखती है। उस टोकरे मे रखे सभी मिट्टी की मूर्तियों को निकालकर जमीन में सजाती है। सामा एवं चकेवा को आमने सामने रखा जाता है तथा उनके चारों ओर चुगला, सतभइया, खंजन पक्षी, वृन्दावन, डोलिया, भरिया एवं झांझी कुत्ता को रखा जाता है। इसके बाद स्त्रियां इन पात्रों को हरी घास की फुनगियां तोड़कर खिलाती है तथा इनसे अपने मनोनुकूल कार्य-व्यापार करवाती है।

इन मूर्तियो के माध्यम से स्त्रियां अपने जीवन की घटित घटनाओं को दुहराती है तथा भाई के प्रति या अपने नैहर के प्रति अपने भावों को अभिव्यक्त करती है। यथा कार्तिक आते ही ससुराल में स्थित युवतियों को अपने नैहर जाने की अकुलाहट होने लगती है। क्योंकि उन्हें पता होता है कि इस महीने में सामा-चकेवा खेला जाता है। वे एक-एक दिन अपने भाई के लेने आने का इंतजार करने लगती है। कितने भाई तो आकर अपनी प्यारी बहन को लिवा ले जाते हैं, कितने अपनी बहन का इंतजार प्रत्येक दिन नदी के किनारे जाकर करते है नाव मे आती बहनें नदी किनारे अपने भाई को उसकी राह में छाता लिये खड़े देख भाव विभोर हो उठती है। उनकी आंखों में खुशी के आंसू छलक आते है, साथ ही उन्हें अपने भाई के स्नेह पर गर्व होता है। अतः अपनी इसी मनोदशा को सामा की ओर से स्त्रियां चकेवा के लिए गीत गाती है -

"पनमा जे खयलह हो भइया, पिकिया नेरोलह ओही ठाम
ओही पिरकी संड हलों हो भईया, गंगा-जमुना केर बाढ़ि
ओही पर बहिन से फलीं बहिन, करूनमा केने है ठाढ़ि
जुनि कानू जुनि खीझू है बहिन, बाबा के सम्पतिया देख बाँटि
बाबा के सम्पतिया हो भईया, मोटरिया केर है आस
हम परदेसिन हो भइय, सिन्दूरवा केर है आस।"

बहन अपने पिता की संपत्ति में अपना हक न मानकर भाई एवं भतीजे का हक मानती है। उसका हक तो मात्र उसकी मोटरी (गठरी) और अपने सुहाग पर है उसका सुहाग बचा रहे और भाई का

Scanned with CamScanner

स्नेह बना रहे यही उसकी कामना है। इस प्रकार गीतों के माध्यम से एक साथ मिलकर सभी युवतियां अपनी भावाभिव्यक्ति करती है। सभी गीतों में भाई की वीरता, उसके स्नेह और प्रेम का गुणगान किया जाता है तथा चुगला की निन्दा की जाती है। उसका उपहास किया जाता है। स्त्रियां आपस में हंसी-मजाक करती है, एक दूसरे को चिढ़ाती है अर्थात् मनोरंजन का एक सुन्दर वातावरण बन जाता है। चुगली की निंदा और उस पर अपना रोष प्रकट करते स्त्रियां कहती है -

''चुगला करे चुगलपन बिलाई करे म्याउं,
आरे चुगला तोरा फांसी दायो।''

इसके बाद वृन्दावन के शरीर, जो सन (पटुआ) का बना होता है, में आग लगायी जाती है। थोड़ा जलाकर उसे छोड़ दिया जाता है। वृन्दावन में आग लगाते समय स्त्रियां गाती है -

''वृन्दावन में आगि लागल केओ ने मिझावय है,
हमरो से फलां भइया, सेहे मिझावय है।''

अर्थात् इस गीत में भी भाई की वीरता का गुणगान किया गया है कि वृन्दावन में आग लगी तो किसी ने नहीं बुझाया। उस आग को एक मेरे भइया ने ही बुझाया। वृन्दावन में आग लगाने की यह क्रिया थोड़ा-थोड़ा करके प्रतिदिन की जाती है। वृन्दावन में आग लगाने के बाद युवतियां भाई के लिए ईश्वर से धन-धान्य से परिपूरित होने के लिए कामना करती है -

''धान धान धान भइया कोठी धान,
चुगला कोठी भुस्सा (भूसा)
आरे वृन्दावन जारे वृन्दावन,
भइया मुख पान, चुगला मुख कोइला
चाउर चाउर चाउर भइया कोठी चाउर,
चुगला कोठी छाउर (राख)।''

इसके बाद भाई-बहन के स्नेह संबंधी कई प्रकार के गीत गाने के बाद उन सभी मूर्तियों को पुनः बांस की टोकरी में समेट स्त्रियां वापस आती हैं। यह उनका नित्य का नियम होता है। किन्तु 'सामा-चकेवा नाट्य' के अंतिम दिन पूर्णिमा की रात, चांद की छिटकती चांदनी में स्त्रियां नित्य की भांति मूर्तियों की टोकरी में दीप जलाकर गीत गाती हुई निकलती है। उस दिन भी गीतों के माध्यम से चुगला की निन्दा की जाती है भाई का गुणगान किया जाता है। सामा को बहन का प्रतीक बनाकर स्त्रियां अपने मन की बातों को सुन्दर मधुर गीतों में ढालकर प्रस्तुत करती है। इस दिन वृन्दावन का पूरी तरह अग्निदाह किया जाता है। इसके बाद एक एक करके मूर्तियों को सभी स्त्रियां मिलकर नष्ट करती है। सामा एवं चकेवा की एक एक मूर्ति को रखकर सभी मूर्तियों को नष्ट कर दिया जाता है। सामा चकेवा की इस मूर्ति को अगले वर्ष होनेवाले सामा चकेवा नाट्य में शामिल करने के लिए रखा जाता है। मूर्तियों को नष्ट करने के बाद इन्हें या तो जलाशय में विसर्जित कर दिया जाता है या रोपाई हेतु जोते गए खेत की मिट्टी मे मिला दिया जाता है। तत्पश्चात् साथ आए ढोलक बजाने वाले शहनाई बजाने वाले और बच्चों को दही-चूड़ा प्रसाद के रूप में देते है। कई बार एकत्रित स्त्रियों में भी यह प्रसाद वितरित किया जाता है। इसके बाद स्त्रियां करूण रस से ओत-प्रोत विदाई-गीत गाती हुई (जिसे मैथिली में 'समदाउन' कहते है) वापस घर आती है। इस तरह सामा-चकेवा 'लोक-नाट्य' का समापन होता है।

'सामा-चकेवा' लोकनाट्य है। मिथिला की स्त्रियों का एक अत्यंत मनोरंजक एवं मन मोहक लोकनाट्य है। इसकी प्रस्तुति ही कुछ इस वातावरण मे होती है कि मन के भावावेग स्वतः उमड़ पड़ते है। पूर्णिमा की चांदनी रात में, जब चारों ओर दूधिया रोशनी फैली होती है, वातावरण में शरद-ऋतु के आगमन से हल्की सिहरन की अनुभूति भी होती रहती है, ऐसे में सभी घरों की स्त्रियां एक साथ एकत्रित होकर रंगबिरंगे वस्त्राभूषण पहनकर निकलती है। उस स्त्रियों में से कई के हाथ में मूर्तियों की टोकरी होती है, घड़े में पानी होता है, जिसे साथ लेकर वे गीत गाती हुई निकलती है। गीत गाती इन स्त्रियों के समूह में वृद्ध महिलाओं के साथ-साथ घूंघट काढ़े गांव की नयी बंधुए भी होती है, जिन्हें गीतों के मध्य भाई को अपने वश में कर रखने का ताना भी दिया जाता है। इन गीतों के साथ ढोल एवं शहनाई से संगत किया जाता है अर्थात् ढोल एवं शहनाई बजाने वाले भी

Scanned with CamScanner

स्त्रियों के साथ जाते और आते हैं। अतः चांदनी रात में आगे-आगे गीत गाती स्त्रियों का समूह और उनके पीछे उत्साह और उल्लास में दौड़ते किलकारी बच्चे वातावरण को और भी आनन्दमय बना देते हैं। इस प्रकार जैसे-जैसे गीत गाती इन स्त्रियों का समूह गांव से दूर होता जाता है, वैसे-वैसे उनके गीतों की ध्वनि भी धूमिल पड़ती जाती है। दूर से आती गीतों की यह धूमिल ध्वनि एक स्वप्निल संसार की सृष्टि करती है।

Scanned with CamScanner

मिथिला की लोक-कला एवं संगीत में बाँस शिल्प

डॉ० लालति कुमारी

बिहार की उत्तरी क्षेत्र पर बसा हुआ क्षेत्र पर बसा हुआ क्षेत्र मिथिला जिसमें खाशकर मधुबनी, दरभंगा के अतिरिक्त पूर्णियाँ, कटिहार, समस्तीपुर, बेगूसराय आदि जिला आते हैं। यहाँ के आम जीवन में बाँस शिल्प अपना अलग स्थान आदि काल से बना रखा है।

वैसे तो बाँस शिल्प का सम्बन्ध बिहार के अतिरिक्त कुछ अन्य राज्यों से भी है परन्तु खासकर मिथिला में तो इत्तका महत्व जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त बहुत अधिक है। कुमारी कन्याएँ जब प्रथम बार रजस्वला होती है, उसके बाद बाँस के बीट में आकर अपने कोख को उर्वरा बनाने एवं सृजन की प्रक्रिया के लिए दुग्ध स्नान करके प्रार्थना करती हैं। लेकिन इस परंपरा का अब क्षरण होता जा रहा है। बाँस मिथिला में बंशवृद्धि का प्रतीक है इसलिए यहाँ की संस्कृति में होनेवाले षोडश संस्कारों में बाँस की महत्ती भूमिका है।

मिथिला में बाँस शिल्प और शिल्पी जाति में डोम के अतिरिक्त धनिकार बाँतर, मल्लाह मुसहर आदि है मूलतः इस कला का जातिगत सम्बन्ध डोम जाति से है।

सोलह संस्कारों में प्रयुक्त बाँस का शिल्पकार डोम ही होता है। इसके अतिरिक्त बाँस शिल्पकार गृहस्थोपयोगी उपकरणो का भी निर्माण करता है। बाँस की मोटी बाती से अनाज रखने के लिए कभी बड़ा गोलकृत भंडार गृह का निर्माण करता है जिसे बखार या बखारी कहा जाता है। छोटे आकार वाले भंडार गृह को कोठी या मुनहर कहा जाता है। कहीं कहीं इसे ढक नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। मिथिला के लोकगीत महेशवाणी में बखारी शब्द का प्रयोग कितने मार्मिक ढँग से किया गया है देखा जा सकता है-

छोटी मोटी दुटली मरैया में,
गौरी दैया कोना के रहती है
अपने महादेव छथिन भिखारी,
किछु नै करै छथि खेती पथारी
धिया पुता पेट मैल बखारी,
भवानी धिया कोना के रहती है।

यह प्रतिपादित हो चुका है कि बाँस मिथिला क्षेत्र में बहुतायत से पाया जाता है। अमीर या गरीब सबों के लिए जन्म से लेकर मृत्यु तक होने वाली विभिन्न पर्व-त्यौहार एवं संस्कार में बाँस से बने सामग्री का उपयोग किया जाता है। जैसे-डाला, चंगेरा, डाली, फूलडाली, सूप, चलनी, टोकरी पथिया, गुरचल्ला, चटाई, सिरकी आदि

मिथिला की परंपरा है कि मुन्डन उपनयन एवं विवाह से दुरागमन के बीच होने वाले अनेक प्रकार के विधि व्यवहार जैसे वर के लिए कोजगरा, कनियाँ के लिए चतुर्थी, मधुश्रावणी, वट सावित्री, जराउर एवं अन्य विधि-वयवहार में चुमाओन का बड़ा ही महत्त्व है। चुमाओन के लिए बाँस से बना डाला जिसे लाल-पीले रंग में सजाकर तैयार किया जाता है और उस पर दुभि-धान, मिठाई केला, नारियल, पान सुपरी से सजाकर वर को चुमाया जाता है इस प्रकार के गीत गाया जाता है-

आजु सुदिन दिन निर्मल बनल अछि
चंदा ओ सुरज समान धीरे-धीरे लालन के

पूर्व शोध छात्रा, पी. डी. एफ., विश्वविद्यालय, संगीत एवं नाट्य विभाग, ल०ना०मि०वि०, दरभंगा

Scanned with CamScanner

करियौ बुमान
कचही जे बाँस केर डाला बनाओल
ताही चढ़ल दुविधान धीरे-धीरे लालन के
करियौ बुमान।

यहाँ प्रायः प्रत्येक क्षेत्र एवं सम्प्रदाय के लोगों का यह संस्कृति है कि किसी भी शुभ कार्य की शुरूआत करने से पहले कुल देवता एवं ग्राम देवता की अराधना करते हैं। सभी सम्प्रदाय के लोगों का अपने-अपने मान्यता के अनुरूप अलग-अलग कुल देवता हैं जो परंपरा से पीढ़ी दर पीढ़ी चले आ रहे हैं। सभी देवी देवताओं के लिए अलग-अलग लोकगीत भी है। बहुत ऐसे लोकगीत हैं जिनमें यहाँ के लोक कला की भी झलक मिलती है इसी क्रम में जीवछ के गीत को देखा जा सकता है-

तोहरियो गहवर जीवछ देवी हे,
लागि गेल हरियर बाँस,
कि ओहि रे मंडप घर
कौने कांती कतरब बाँसक बीट हे
कि कौने काँती चीरब में कामी
कि ओहि रे मंडप घर
सोने कांती कतरब बाँसक बीट हे
कि रूपे काँती चीरब में कमी
ओहि कामी बुनब में डाला डाली हे
कि भरब में अडडुल फूल
ओहि फूल पुजब जीवछ देवी हे
कि जाने मोरा पुरइती आस है।

बाँस कला की ये महत्त्वपूर्ण घरेलू सामग्री 'सूप' आकार की दृष्टि से बड़ा, मझला, छोटा होता है। बुनाई की दृष्टि से प्लास्टिक बाँध वाला, बेंत बाँध वाला, महीन बुनाई वाला और मोटी बाँध वाला सूप होता है, श्री उपेन्द्र महारथी ने छः प्रकार के सूपों की चर्चा की है लेकिन नाम केवल तीन का ही लिखे हैं- बड़ा मझला, छोटा।

सूप का धार्मिक दृष्टिकोण से भी बड़ा ही महत्त्व है। पूरे बिहार, उत्तर प्रदेश में असीम आस्था के साथ मनाए जानेवाले लोक पर्व छठ जिसे महापर्व कहा जाता है में सूप का महत्त्वपूर्ण स्थान है जिसे छठ के गीत में देखा जा सकता है-

गलियहि गलियहि डोमरा
तोरा डाली की रे विकाय
हमरा डालिया में सुपवा
छठि माइ के सनेस
गलियहि गलियहि पटवा
तोरा डाली की रे विकाय
हमरा डलिया में बद्धी
छठि माइ के सनेस।

बाँस शिल्प में डाली का महत्त्वपूर्ण स्थान है। फूल लोढ़ने के लिए जिस डाली का प्रयोग किया जाता है उसे फूल डाली कहते हैं। इसके उपर से पकड़ने के लिए डंटी लगा रहता है। कहीं-कहीं फूल डाली को फूल तोड़ा भी मिथिला में कहा जाता हैं। जिस घर में पूजा पाठ होता है उस घर में फूल तोड़ा का काम प्रतिदिन सुबह होते ही फूल, बेलपत्र, दूभि तोड़कर रखने के लिए होता है। फूल डाली के संदर्भ में एक गीत जो मिथिला के लोकपर्व मधुश्रावणी में कोवर घर में फूल छिटते समय गाया जाता है-

फूल छिटै में लागे सोहान सियाजी के कोवर में
कौने डाली लोढ़ब बेली चमेली
कौने डाली लोढ़ब बेली चमेली
रूपे डाली लोढ़ब गुलाब सियाजी के कोवर में।

पूरे बिहार की बात कौन कहे हमारे समय से पूरे भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों में श्रोत्रिय, ब्राह्मण कायस्थ और राजपूत सम्प्रदाय में उपनयन संस्कार के माध्यम से बालक को जनेऊ पहनाया जाता हैं। ये जनेऊ हमारे घर परिवार की बुजूर्ग महिलाओं द्वारा तैयार किया जाता हैं। इसके लिए बाँस से बड़े कलात्मक ढ़ंग से कारीगर तैयार करते हैं। जनेउ संस्कार के अतिरिक्त विवाह संस्कार में भी विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न ढंग से मंडप सजाने की प्रथा प्रचालित है जिसे लोकगीत के माध्यम से देखा जा सकता हैं-

उपनयन(जनेऊ) के गीत
लाल पीयर केर मारब
ओत' देखैत सोहावन रे
ताहि मारब बैसला बाबा
ओजे जंघा चढ़ि ऐरब आमा हे
गोदी भए बैसला फलना बबुआ
बाबा लाल जनेऊ दिय हे।

Scanned with CamScanner

विवाह गीत

जँघिया चढ़ाव बाबा बैसला मंडप पर
आब बाबा करू धिया दान हे।
तर करू हाथ वर कन्या करू उपर
ताही में शोभय दुभी धान हे।
गुरू वशिष्ट मुनि मंत्र पठाओल
मंत्र पढ़थि श्री राम हे
सिसकि सिसकि रोवे मैया सुनयना
आजु धिया होइछथि विरान हे
जाहि धिया लय नटुआ नचाओल
सेहो धिया होई छथि विरान हे
चुप रहु चुप रह मैया सुनयना
इहो हैंक जगत व्यवहार हे।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि बिहार की लोक कला एवं संगीत में बाँस शिल्प का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है क्षेत्रगत भिन्नता होने के बावजूद भी बाँस शिल्प यहाँ की परंपरा एवं संस्कृति में रचा-बसा है।

संदर्भ सूची :-

(1) सिन्हा राजकुमार, शोध प्रबंध, मिथिला में बाँस शिल्प
(2) परम आदरणीया दादी माँ स्व० उग्रतारा देवी के मुख से प्राप्त
(3) माता जी के मुख से प्राप्त
(4) सिंह डॉ0 अणिमा, मैथिली लोकगीत पृ0- 39-40
(5) महारथी उपेन्द्र, वेणु शिल्प पृ0- 153
(6) सिंह डॉ0 अणिमा, मैथिली लोकगीत पृ0- 122
(7) श्रीमती निर्मला देवी, लोकगीत गायिका से प्राप्त
(8) ज्ञा श्री गोपीकान्त, देवी श्रीमती उमा (सम्पादक) मैथिली लोकगीत उर्वशी पृ0 - 198
(9) देवी श्रीमती कामेश्वरी, संस्कार गीत- पृ0 सं0- 110

Scanned with CamScanner

भारत रत्न एम0 एस0 सुब्बालक्ष्मी

रामचन्द्र पासवान

एम.एस. सुब्बालक्ष्मी का जन्म 16 सितम्बर 1916 ई0 को मदुरै तमिलनाडु के मन्दिर में हुआ था और उन्हें इस नाते देवकन्या रूप में कुजम्मा कहा जाता था। उनको भक्ति गायन के संस्कार वहीं से मिले थे। सुब्बालक्ष्मी का पहला जन कार्यक्रम आठ वर्ष की उम्र में कुम्बाकोनम में महामहम उत्सव के दौरान हुआ था। इसी कार्यक्रम के बाद उनका सार्वजनिक दौर शुरू हुआ।

सुब्बालक्ष्मी ने सेम्मनागुडी श्रीनिवास अय्यर से कर्नाटक संगीत की शिक्षा ली। पण्डित नारायण राव व्यास उनके हिन्दुस्तानी संगीत में गुरु रहे। सुब्बालक्ष्मी का पहला भक्ति संगीत का एलबम तब आया जब उनकी उम्र केवल दस वर्ष की थी। उसी के बाद वह मद्रास संगीत अकादमी में आ गई। उनकी मातृभाषा कन्नड़ थी लेकिन उनका गायन विविध भाषाओं में हुआ। एम.एस. सुब्बालक्ष्मी ने जिस दौर में गायन शुरू किया और अपना स्थान बनाया, उसमें पुरुष गायकों का ही दबदबा था लेकिन सुब्बालक्ष्मी ने उस परम्परा को तोड़ा।

सुब्बालक्ष्मी ने फिल्मों में अभिनय भी किया 1945 में उनकी यादगार फिल्म 'भक्त मीरा' आई। इस फिल्म में मीरा के भजन लिए गए थे, जिन्हें सुब्बालक्ष्मी ने ही गाया था। वह भजन आज भी लोकप्रिय हैं। इनकी अन्य फिल्मों में 'सेवा सदनम', 'सावित्री' तथा तमिल में 'मीरा' आई, लेकिन बाद में इन्हें लगा कि वह गायन के क्षेत्र में ही काम करना ज्यादा पसन्द करेंगी।

कर्नाटक संगीत की इस गायिका के सुरीली आवाज के लाखों प्रशंसक हैं। आपने छोटी आयु से संगीत का शिक्षण आरंभ किया, और दस साल की उम्र में ही अपना पहला डिस्क रेकॉर्ड किया। इसके बाद आपने शेम्मंगुडी श्रीनिवास अय्यर से कर्णाटक संगीत में, तथा पंडित नारायणराव व्यास से हिंदुस्तानी संगीत में उच्च शिक्षा प्राप्त की। आपने सत्रह साल की आयु में चेन्नै की विख्यात म्युजिक अकादमी में संगीत कार्यक्रम पेश किया।

संगीत के अलावा श्रीमती सुब्बालक्ष्मी ने कई फिल्मों में भी अभिनय किया। इनमें सबसे यादगार है 1945 की मीरा फिल्म, जिसमें आपकी मुख्य भूमिका थी। उनका मीराबाई का किरदार हमेशा यादगार रहेगा। वो साक्षात कृष्ण की मीरा लगती थी। उनके मीरा भजन आज भी कानों में गूँजते है : मोरे तो गिरिधर गोपाल, दूसरो ना कोई

लता मंगेशकर ने आपको 'तपस्विनी' कहा, उस्ताद बडे गुलाम अली खां ने आपको 'सुस्वरलक्ष्मी' पुकारा, तथा किशोरी आमोनकर ने आपको 'आठवां सुर' कहा, जो संगीत के सात सुरों से ऊँचा है। महात्मा गाँधी और पंडित नेहरु भी आपके संगीत के प्रशंसक थे। एक अवसर पर, महात्मा गांधी ने कहा कि अगर श्रीमती सुब्बालक्ष्मी 'हरि, तुम हरो जन की पीर' मीरा भजन को गाने के बजाय बोल भी दें, तब भी उनको वह भजन किसी और के गाने से अधिक सुरीला लगेगा।

साल 1938 में फिल्म ' सेवासदानम' से अपना कैरियर शुरू करने वाली सुब्बालक्ष्मी को उनके सामाजिक और मानवीय कार्यों के लिए भी जाना जाता था। सुब्बालक्ष्मी का निधन 2004 में 88 साल की उम्र में हुआ था।

पूर्व शोधछात्र, वि0वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0 ना0 मि0 वि0 वि0, दरभंगा

Scanned with CamScanner

कुछ समय पहले खबर आई थी कि विज्ञापन एवं फिल्म निर्माता और सिनेमेटोग्राफर राजीव मेनन सुब्बालक्ष्मी की जीवनी पर फिल्म बनाने पर विचार कर रहे हैं और अभिनेत्री विद्या बालन को फिल्म में सुब्बालक्ष्मी की भूमिका का प्रस्ताव दिया गया है।

सुब्बालक्ष्मी के बारे में कहा जाता है कि जो लोग उनकी भाषा नहीं समझते थे वे भी उनकी गायकी सुनते थे। उनकी आवाज को परमात्मा की अभिव्यक्ति कहा जाता था और लोग प्रसन्नचित होकर उनका गायन सुनते थे। उनके प्रशंसकों की फेहरिस्त में महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू सरीखे कई प्रख्यात लोग थे।

सम्मान और पुरस्कार :

1. 1954 में पद्म भूषण
2. 1956 में संगीत नाटक अकादमी सम्मान
3. 1974 में रैमन मैग्सेसे सम्मान
4. 1975 में पद्म विभूषण
5. 1988 में कैलाश सम्मान
6. 1998 में भारत रत्न समेत कई सम्मानों से नवाजा गया। इसके अतिरिक्त कई विश्वविद्यालयों ने उन्हें मानद उपाधि से सम्मानित किया।

Scanned with CamScanner

संगीत का स्वर्णयुग : मध्यकाल

राजेश कुमार पंडित

भारतीय शास्त्रीय संगीत के इतिहास पर यदि दृष्टिपात किया जाए तो संगीत के विकास में मध्यकाल और आधुनिक काल को महत्वपूर्ण समय माना जा सकता है। जहाँ आधुनिक संगीत के विस्तार में वैज्ञानिक और इलेक्ट्रोनिक उपकरणों का पर्याप्त योगदान है, वहीं मध्यकाल शास्त्रीय संगीत के मौलिक और सनातन तत्वों से भरपूर था। संगीत में जितनी भी गायन शैलियाँ, तंत्र एवं अवनद्ध वाद्यों का विकास, नामचीन गायकों की परंपरा, संगीत के ग्रंथों का लेखन तथा भक्तकवियों के कीर्तनों से संगीत का विकास और विस्तार हुआ, उतना किसी भी काल में नहीं हुआ है। शास्त्रीय संगीत के सनातन, आध्यात्मिक स्वरूप की उन्नति इसी काल के भक्त कवियों और कीर्तनकारों के द्वारा की गई। इसीलिए मध्यकाल को "संगीत के स्वर्णयुग" की संज्ञा दी गई।

विद्वानों के मतानुसार 8वीं शती से लगभग 17वीं और 18वीं शती का पूर्वार्ध मध्यकाल के घेरे में आता है अतएव मध्यकाल को दो भागों में विभाजित किया गया -

(क) पूर्व मध्यकाल- जिसे 8वीं शती से लगभग 11 या 12वीं शती तक कहा गया।

(ख) उत्तर मध्यकाल- जिसे 12वीं शती से लगभग 17 या 18वीं शती के पूर्वार्ध तक कहा गया।

यद्यपि 11वीं अथवा 12वीं शती तक भारत में राजनैतिक और सामाजिक रूप से पर्याप्त उथल पुथल रही, जिसका प्रभाव संगीत पर भी पड़ा। फिर भी पूर्व मध्यकाल में कुछ उपलब्धियाँ प्राप्त हुई। जैसे प्राचीन काल से चली आ रही ग्राम मूर्च्छना और जाति गायन के रूप में प्रचलित शास्त्रीय संगीत के स्वरूप में बदलाव आया। जातिगायन का स्थान शनैः शनैः राग-गायन ने लिया। दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य तंत्रवाद्यों पर पहली बार परदे या सारिका लगाने की प्रथा प्रारंभ हुई। अतः आधुनिक राग गायन और सितार आदि तंत्र वाद्यों पर लगे हुए परदे की प्रथा पूर्व मध्यकाल की ही देन है। इसी समय जयदेव कृत "गीत गोविन्द" में राधा कृष्ण विषयक प्रबंध गीतों ने संगीत के आध्यात्मिक और शास्त्रीय पक्ष को उजागर करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

उत्तर मध्यकालीन संगीत अपने आप में पर्याप्त, उन्नत और समृद्ध था जिसका प्रभाव आजतक संगीत में दिखाई देता है। विश्व प्रसिद्ध संगीत के मसीहा तानसेन, इसी काल की देन है। इस काल में मुस्लिम साहित्य, संस्कृति और कला का समागम हिन्दू साहित्य संस्कृति और कला के साथ हुआ। इस काल की सर्वाधिक विशेषता यह भी रही कि नाना प्रकार की गायन शैलियों, वाद्य एवं कलाकारों का विकास होने के साथ ही कुछ मुस्लिम शासकों द्वारा भारतीय संगीत की जड़ों को उखाड़ने के भरसक प्रयत्न करने के बाद भी भारतीय शास्त्रीय संगीत ने न तो अपनी मौलिकता (Originality) खोई और ना ही इसके स्वरूप में बदलाव आया। इसीलिए मध्यकाल को संगीत का "विकास-काल" भी कहा जा सकता है।

संगीत के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से "मध्यकाल को संगीत का स्वर्ण-युग" इसलिए कहा गया, क्योंकि भारतीय शास्त्रीय संगीत की जितनी भी उपलब्धियाँ और गतिविधियाँ इस काल में हुई उतनी संभवतः किसी काल में नहीं हुई।

इस काल का सबसे महत्वपूर्ण संगीत ग्रंथ पंडित शारंगदेव कृत "संगीत रत्नाकर" है। महर्षि भरत के नाट्यशास्त्र के बाद संगीत का यह ग्रंथ महत्वपूर्ण रहा, क्योंकि इस ग्रंथ में जहाँ एक ओर प्राचीन ग्राम

Scanned with CamScanner

मूर्च्छना, जाति गायन की व्याख्या है तो दूसरी ओर इसमें तत्कालीन रागों की भी व्याख्या है। षड्ज ग्राम और मध्यम ग्राम के स्थान पर शुद्ध और विकृत स्वरों का केवल एक ग्राम या सप्तक का विकास तथा तीव्र मध्यम स्वर की उत्पत्ति। इसके अतिरिक्त रागों का वर्गीकरण , मेल-राग व्यवस्था तथा तत्कालीन प्रबंध गीत शैली आदि के विवरण हैं इसीलिए यह ग्रन्थ उत्तरी तथा दक्षिणी दोनों पद्धतियों के लिए ''महाभाष्य'' माना गया।

इसी काल में 1296 ई0 में अलाउद्दीन खिलजी दिल्ली के गद्दी पर बैठा। इनके राज्य काल में अमीर खुसरो नामक एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। चूंकि खुद सुलतान अलाउद्दीन खिलजी संगीत-प्रेमी थे अतः खुसरो को नई ताल एवं राग रचने में बड़ा प्रोत्साहन मिला। खुसरो योग्य, प्रतिभाशाली परंतु राज-शक्ति के साथ रहने वाला कूटनीतिज्ञ और दरबारी कवि था। उसने अपने जीवन में दिल्ली की 11 बादशाहतें देखी थी जिनमें अनेक सुलतान उसके आश्रयदाता थे। वह उच्चकोटि का कवि और विद्वान था। अमीर खुसरों ने प्राचीन भारतीय वीणाओं के आधार पर आधुनिक तंत्रवाद्य सितार का विकास किया। कई राग जैसे-जीलफ, साजगिरी, सरपरदा, जिल शहाना, रात की पूरिया, बरारीतोड़ी और कई गायन शैलियों जैसे कौल, कव्वाली, ख्याल कलबाना, सोहला, विल्लाना, गजल नक्श, निगार और तराना का प्रचलन किया। अमीर खुसरों ने संगीत विषय पर फारसी में कई पुस्तकें भी लिखी। इस काल में मुसलमान चाहते थे कि भारतीय संगीत को अरब संगीत का रूप दिया जाये और हिन्दुओं की इच्छा थी कि भारतीय संगीत की स्थिति और अधिक न बिगाड़ी जाय। सिकंदर लोदी को यद्यपि संगीत का कुछ ज्ञान नहीं था। परंतु फिर भी वे संगीतज्ञों का आदर करते थे। इस काल में कव्वाली, गजल, ख्याल, टुमरी आदि खूब प्रचार में आ गए थे।

अलाद्दीन खिलजी के ही आश्रय में गोपाल नायक दरबारी गायक रहता था। इतिहास के संकेतानुसार गोपाल नायक सन् 1294 और 1295 के बीच दिल्ली पहुँचे थे। इससे पहले गोपाल नायक और अमीर खुसरों की संगीत प्रतियोगिता हुई। खुसरों के छल और चातुर्य द्वारा गोपाल नायक को पराजित होना पड़ा। दिल्ली में गोपाल नायक को गायक के रूप में सम्मान प्राप्त हुआ। गोपाल नायक के विषय में एक किंवदंती है कि जब ये दिल्ली से बाहर जाते थे तब अपनी गाड़ी के बैलों के गले में समयानुसार राग वाचक ध्वनि पैदा करने वाले घंटे बांध दिया करते थे। चतुर कल्लिनाथ ने भी संगीत रत्नाकर ग्रंथ के तालाध्याय की टीका में ताल-व्याख्या के अंतर्गत गोपाल नायक के नाम का उल्लेख किया है। इससे प्रमाणित होता है कि उस समय संगीत विद्वानों में गोपाल नायक का काफी सम्मान था। ये मध्यकाल के संगीत जगत के जगमगाते सितारे थे।

गोपाल नायक ने सारंग, बड़हंस, पीलू, किरम आदि रागों का अविष्कार किया। इन्होंने ब्रजभाषा में तीर्थ त्रिकसार की रचना की जिसमें 1000 इनकी और 1000 इनके गुरू की रचनाएँ हैं।

राग, रागिनी एवं रागों के ध्यान आदि की कल्पना भी इसी काल की देन है। इसी समय तत्कालीन रागों को मेल या संस्थान में सम्मलित करने की योजना कार्यान्वित हुई जिसका श्रेय 14वीं शती के माधव विद्यारण्य को जाता है। इसी परंपरा को रामामात्य पुण्डरीक आदि विद्वानों ने भी मान्यता दी और राग-रागिनी वर्गीकरण के स्थान पर समस्त रागों का वर्गीकरण मेल में किया जिसे आगे चलकर मेल-राग या थाट-राग वर्गीकरण का नाम दिया गया। अर्थात् रागों का वैज्ञानिक वर्गीकरण मध्यकाल की घटना है।

15वीं शताब्दी में ग्वालियर भी संगीत का बड़ा भारी केन्द्र रहा। ग्वालियर का राजा मानसिंह तोमर स्वयं संगीत का ज्ञाता था तथा संगीतज्ञों का सम्मान भी करता था। मानसिंह तोमर ने परंपरागत तत्कालीन प्रबंधन शैली के आधार पर एक नवीन स्वर, शब्द और लय प्रधान गीत शैली का स्वरूप सामने रखा जो आगे चलकर ध्रुवपद नाम से विख्यात हुआ। इन्हें संकीर्ण राग प्रिय थे अतः इन्होंने कई नए राग माल गुजरी तथा मंगल गुजरी रचे। इन्होंने संगीत पर आधारित मान कुतूहल ग्रंथ की रचना की।

15वीं शताब्दी के लगभग कवि लोचन ने राग तरंगिणी नामक संगीत पर आधारित ग्रंथ लिखा। इन्होंने 22 श्रुतियां और 7 शुद्ध स्वर माने। इनका शुद्ध थाट आजकल के काफी थाट के समान है।

Scanned with CamScanner

इन्होंने 12 मेल और उनके अंतर्गत सब रागों का वर्गीकरण किया। इन्होनें रागों का गायन समय भी दिया। इनका दिया संगीत विवरण आज भी उपयोगी है।

जौनपुर के राजा सुलतान हुसैन शर्की संगीत कला के प्रेमी थे। कहा जाता है कि सुलतान हुसैन ने ख्याल का आविष्कार किया और कुछ कहते है कि ख्याल गायन के प्रचार एवं प्रसार में इन्होंने विशेष योगदान दिया। इन्होंने कई नए राग जैसे भैरवी, जौनपुरी, तोड़ी आदि की रचना की।

बाबर संगीत प्रिय बादशाह थे। वे एक अच्छे संगीतज्ञ और गीतों के रचयिता थे। ये कलाकारों का सम्मान करते और उन्हें पुरस्कार भी प्रदान करते थे। इन्होंने कई गीत रचे और संगीत की एक छोटी सी पुस्तक भी लिखी। इनके समय में ही कल्लिनाथ ने संगीत रत्नाकर की टीका लिखी जिसका संगीत प्रेमियों के लिए आज भी महत्व है।

दक्षिण विद्वान रामामात्य ने 'स्वर मेल कलानिधि' पुस्तक लिखी। इसके पाँच प्रकरण है:- (1) उपोद्घात प्रकरण (2) स्वर प्रकरण (3) वीणा प्रकरण (4) मेल प्रकरण (5) राग प्रकरण। पहला प्रकरण भूमिका मात्र है। स्वर प्रकरण में संगीत के दो भेद गांधर्व और गान किए। गांधर्व, जिसका उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति और गान, जिसका उद्देश्य जनमन रंजन है। यह 22 श्रुतियाँ और 7 शुद्ध स्वर तथा 5 विकृत स्वर मानते हैं। वीणा प्रकरण में वीणा पर शुद्ध विकृत स्वरों की स्थापना, मेल प्रकरण में 20 थाटों का पूरा विवरण और राग प्रकरण में इन थाटों से उत्पन्न 63 जन्य रागों का वर्णन करते हैं।

मध्यकाल में ही सम्राट अकबर के समय में संगीत की बड़ी उन्नति हुई। उसने कई श्रेष्ठ गायकों, वादकों को अपने दरबार में आश्रय दिया और उनका काफी सम्मान किया। आइने अकबरी के अनुसार उसके दरबार में 36 संगीतज्ञ थे। जैसे- नायक बैजू, तानतरंग, गोपाल, तानसेन, बाबा रामदास, सूरदास, बाज बहादुर आदि।

तानसेन अकबर के सबसे अच्छे दरबारी गायक थे। इन्होंने कई ध्रुवपदों की रचना की और उन्हें स्वयं गाया भी। इन्होंने वीणा के आधार पर रबाब नामक वाद्य का आविष्कार किया। वीणा और सितार के आधार पर "सुरबहार" नामक वाद्य के निर्माण का श्रेय भी तानसेन को जाता है। इन्होंने कई नवीन राग जैसे मियां की तोड़ी, मियां की सारंग, दरबारी कान्हड़ा आदि बनाए। तानसेन द्वारा लिखित इन तीन ग्रंथों का उल्लेख भी मिला है। 1) श्री गणेश स्त्रोत 2) रागमाला 3) संगीत सार। इन्होंने कई राग रागिनियों को भी सिद्ध किया जिसका स्पष्ट प्रभाव था- दीपक राग से अग्नि प्रकट होना, मेघ मल्हार से वर्षा होना आदि।

इस काल में सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई और स्वामी हरिदास ने भक्ति रस के माध्यम से संगीत का जनता में प्रचार किया। इसी काल में कर्नाटकी पंडित पुण्डरीक विट्ठल द्वारा लिखे गए संगीत संबंधी चार ग्रंथ मिलते है- 1) सद्रागचन्द्रोदय 2) रागमाला 3) राग मंजरी 4) नर्तन-निर्णय। सम्राट जहांगीर के समय में बिलास खाँ, छत्तर खाँ, मक्खू, परवेज, रमजान आदि प्रसिद्ध गायक हुए। इनके समय में पंडित दामोदर कृत संगीत दर्पण और सोमनाथ कृत 'राग बिबोध' ग्रंथ लिखे गए।

17वीं शताब्दी में उस समय के संगीत विद्वान अहोबल ने सन् 1650ई0 के लगभग हिन्दुस्तानी संगीत का एक महत्वपूर्ण ग्रंथ संगीत परिजात लिखा। ठीक इसी समय हृदयनारायण देव द्वारा "हृदय कौतुक" और "हृदय प्रकाश" ये दो ग्रंथ लिखे गए जिनमें अहोबल का अनुकरण करते हुए 12 स्वर स्थान वीणा के तार पर समझाए हैं।

भावभट्ट दक्षिणी संगीत पद्धति के लेखक थे। इन्होंने भी संगीत के तीन ग्रंथ (1674-1706) ई0 के लगभग में लिखें- 1) अनुप विलास 2) अनुकपांकुश तथा 3) आनूप संगीत रत्नाकर। इसी समय पं0 व्यंकटमखी द्वारा चतुर्दंडी प्रकाशिका एवं पंडित श्रीनिवास द्वारा राग तत्व द्वारा विबोध नामक ग्रंथ लिखे गए। ये संगीत के ऐसे शास्त्र ग्रंथ हैं जो आधुनिक संगीत में आज भी संदर्भ ग्रंथों के रूप में जाने-माने जाते हैं।

लगभग 1719-1748 के बीच मोहम्मद शाह रंगीले के दरबार में खयाल गायकी का खूब प्रचार हुआ। इन्हीं के दरबार में अदारंग और सदारंग दो संगीतज्ञ थे जिन्होंने हजारों खयाल बनाए। इनके समय में अन्य गीत शैलियों यथा ठुमरी, टप्पा,

Scanned with CamScanner

चैती, कव्वाली आदि का भी खूब प्रचार हुआ।

मध्यकाल को स्वर्ण युग कहे जाने के पीछे अहम् कारण यही है कि उत्तर भारत में मुस्लिम शासनसत्ता होते हुए भी भारतीय संगीत के मौलिक, शास्त्रीय और आध्यात्मिक स्वरूप में बिखराव नहीं हुआ बल्कि मुस्लिम संगीत के मिश्रण से भारतीय संगीत की अभिवृद्धि ही हुई। यह भारतीय संगीत की आध्यात्मिक मौलिकता थी जिसने मध्यकालीन संगीत को "स्वर्ण युग" की संज्ञा प्रदान की।

संदर्भ ग्रंथ -

1. डॉ0 महारानी शर्मा, संगीत मणि, भाग-1
2. वसंत, संगीत विशारद,
3. डा0 लक्ष्मीनारायण गर्ग, राग विशारद, भाग-1
4. श्रीमती इन्द्रवीर कौर, स्वर निधि

Scanned with CamScanner

सैद्धान्तिक संगीत और नवोन्मेष की प्रक्रिया

अनादि मिश्रा

संगीत हमारे समस्त सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का मनोहर रूप है जो हमारे अर्न्तमन की प्रवृत्तियों का प्रस्फुटन और प्रतिबिम्ब है। अन्य सभी प्रकार के विज्ञानों व कलाओं की भांति संगीत भी हमारी चिन्तन शक्ति व अनुभूति का संरचनात्मक विलेषण कर अपने वैज्ञानिक और सैद्धान्तिक स्वरूप को सिद्ध करता है। संगीत के सभी सैद्धान्तिक विषय ज्ञान के अन्तर्गत आते है और उनके क्रियात्मक रूप अर्थात प्रस्तुतिकरण प्राण विज्ञान भी है, श्रोत विज्ञान भी है, जिव्हा विज्ञान भी है, आदि सभी विज्ञान जो संगीत और उसके सिद्धान्त में समाहित है। सिद्धान्तों का निर्माण सांगीतिक ज्ञानियों, बुद्धिजीवियों द्वारा होता रहा है। ये भी सर्वमान्य है कि सैद्धान्तिक संगीत की रचना वही कर सकते है जिनको क्रियात्मक संगीत का पूर्ण ज्ञान है, वही विधि-विधान और सिद्धान्तों की सृष्टि कर सकते है।

यदि क्रियात्मक संगीत के साथ सैद्धान्तिक संगीत का समन्वय न होता तो संगीत अपने आदि रूप में विकसित न होकर वर्तमान उन्नति के शिखर को प्राप्त नहीं करता। क्रियात्मक संगीत का स्वच्छंद स्वरूप हमारे हृदय के आँगन में अंकुरित होता है। संगीत मर्मज्ञों के मस्तिष्क और मन उस अंकुर को प्रफुल्लित करके भाषा के रूप में या मौखिक रूप से विधि विधान द्वारा पोषित करते है और उसका सैद्धान्तिक रूप दर्शाते है। संगीत मानव हृदय में तरंगित ललित भावनाओं का सुचारू, आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति कलापूर्ण तभी होती है, जब उसमें कोई विधि हो, विधान हो, सिद्धान्त हो। अपनी कल्पना द्वारा, अपने ज्ञान और विचार द्वारा तथा अपनी अनुभूतियों द्वारा संगीतकार जो निधि एकत्र करता है वो किसी सिद्धान्त द्वारा ही विभूषित होती है। "संगीत आत्मा की संवेदनशील भावुकता भरी लयात्मक वाणी है, जो चेतना के एक विशिष्ट आयाम को अभिव्यक्ति कर युग-विशेष, समाज-विशेष, या व्यक्ति विशेष की भावनाओं की अभिव्यक्ति करती है।"[1]

सिद्धान्त का अर्थ है कि जो सत्य प्रमाणित होकर सिद्ध हो गया हो और समवर्त्ती काल में अब उसमें सत्य को प्रमाणित करने की संभावना नहीं रही हो- अर्थात् सिद्ध + अन्त = सिद्धान्त बन गया। तात्पर्य है कि सत्य के आगे कुछ होता ही नही है। सत्य में छिपे किसी नये पहलू को खोजना और नये ढंग से सत्य ढूंढ कर प्रकाशित करना तो मात्र खोज है और खोज के पश्चात् अपना मत प्रमाणित करना ही शोध है जो नव सिद्धान्त का निर्धारण करता है। भली-भांति सोच कर स्थिर किया हुआ मत, अथवा बात इसके सदा सत्य होने का निश्चय या मन में हो तभी सिद्धान्त माननीय होता है। सिद्धान्त वह बात है जो विद्वानों या उनके किसी वर्ग या सम्प्रदाय द्वारा सत्य मानी जाती है। "सिद्धान्त सिद्धि का अन्त है। यह वह धारणा है जिसे सिद्ध करने के लिये, जो कुछ हमे करना था वह कर चुके है और अब स्थिर मत अपनाने का समय आ गया है। धर्म-विज्ञान, दर्शन, नीति, राजनीति सभी सिद्धान्त की अपेक्षा करते है।"[2] सिद्धान्त सभी अनुभवों को गठित करता है। सिद्धान्त तथ्यों का अनुसंधान है और नवोन्मेष द्वारा बदलता रहता है। सिद्धान्त क्या है? क्यों है? कैसे है? इन तीनों के समाधान से निरूपित होता है।

शोधार्थी (संगीत विभाग), वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान

Scanned with CamScanner

ज्ञान बाहर से प्राप्त होता है। बुद्धि योग्यता अनुसार अन्दर से निकलती है। ज्ञान और बुद्धि से सांगीतिक तत्वों का उद्भव होता है, और उसकी आकृति मन की देन है। सिद्धान्त का शाब्दिक अर्थ है "सिद्धान्त (संज्ञा पु.) (सां) (1) विचार एवं तर्क द्वारा निश्चित किया हुआ मत, उसूल। (2) किसी विद्वान द्वारा प्रतिपादित या स्थापित मत। वाद। थिऊरी (3) ऋषियों आदि के मात्र उपदेश। (4) सार की बात। तत्वार्थ।"[3]

शैक्षणिक संस्थानों में सिद्धान्त को theory कहते है। theory का शाब्दिक अर्थ है- "सं. १. सिद्धान्त वाद (आ., मा. १, २, ३, वि. १भी) उत्पत्ति, मत, विचार, परिकल्पना, राय, अनुमान, ३. अनुमान-क्षेत्र, मनः सृष्टि, कल्पना जगत; ४. किसी विज्ञान या विद्या के साधारण सिद्धान्तों की कारिका, सिद्धान्त-शास्त्र, सैद्धान्तिकी (cf music); ५. (गणि.) उत्पत्ति, किसी विषय के सिद्धान्तों को उदाहत करने के लिये परिणामों का संकलन। जीमवतपेज सं. उत्पत्तिकर्त्ता, सिद्धान्तवादी, मतवादी। जीमवतप्रम क्रि.सं. सिद्धान्त बनाना, मत स्थापित करना। theorization सं. मत स्थापन, सिद्धान्त-कथन। जीमवतप्रमत स. सिद्धान्त बनाने वाला, मत स्थापित करने वाला।"[4]

अंग्रेज़ी में सिद्धान्त का पर्यायवाची शब्द है- "प्रिंसिपल (Principle -प्रिन्सि-पुल्- n] Primary Source, fundamental truth, axiom, code of right, conduct, motive] मूल, हेतु (कारण), तत्त्व, सार नियम (व्यवस्था) सिद्धान्त; On Principle Age ऐज् (Edge ऐज् (according to a Principle) सिद्धान्त के अनुसार; Principled (-ड्) करण of high Principles, उच्च सिद्धान्त का।"[5]

किसी भी कला के चेतन स्वरूप और उसके आध्यात्मिक प्रभावों को व्यवस्था देने के लिये सिद्धान्त का उदय होता है। व्यवस्था का मूल, सिद्धान्त में है। अपने आंतरिक अनुभवों पर विचार करना 'मनन' कहलाता है। सिद्धान्त इसी 'मनन' क्रिया की उपज है और सिद्धान्त हमारे अनुभवों का 'मनन' है। हमारे अनुभव विचित्र और विशाल है। इसमें बाह्य और आंतरिक जगत का अनुभव सम्मिलित है। इसमें भावना, कल्पना, स्मृति, प्रवृति इच्छायें भी है। इस विस्तृत और विविध अनुभव को सूचित करने के लिये इसमें सामन्जस्य होना आवश्यक है। इससे सैद्धान्तिक दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। "सैद्धान्तिक रूप का क्षेत्र ज्ञान है, व्यवहारिक रूप का क्षेत्र क्रिया है। ज्ञान का आधार स्वतन्त्र व स्वतः उत्पन्न से सम्बन्धित है।"[6]

सिद्धान्त केवल कल्पना मात्र नहीं, अपितु इसका आरम्भ ज्ञान और अनुभव के साथ होता है। उच्चतम् सिद्धान्त का प्रभाव देश काल और व्यक्ति तक सीमित नहीं है, वह अपने ज्ञान भंडार से सबको कुछ न कुछ अनुभव अवश्य देता है।

संगीत नाद स्वरूप वाणी का ही विस्तृत और सुमधुर रूप धारण करता है, और सुमधुर रूप में स्वर, लय और शब्द विद्यमान होते है। नाद रूपी स्वर लय वाणी, शब्द, भाषा, संगीत सिद्धान्त के आधार स्तम्भ है। सैद्धान्तिक संगीत क्रियात्मक संगीत से भिन्न नही है वरन् वह उसका मुखरित रूप है। वह क्रियात्मक संगीत से उठी हुई तरंग है, जो सैद्धान्तिक रूप में प्राप्त होती है। सैद्धान्तिक संगीत, क्रियात्मक संगीत के विटप का मधुमय सुमन है। स्वर और लय में ही उसका अस्तित्व है। अंग-अंगी से भिन्न गुण वाला नहीं हो सकता इसीलिये क्रियात्मक संगीत की मूल प्रेरणाएं सैद्धान्तिक संगीत की मूल प्रेरक शक्तियां है, जो वृत्तियां क्रियात्मक संगीत की क्रियाओं के मूल स्त्रोत हैं। वही सैद्धान्तिक संगीत को भी जन्म देती है। वास्तव में क्रियात्मक संगीत की प्रतिभाशाली परम्परा का दर्पण सैद्धान्तिक संगीत है, जिसके माध्यम से संगीत के सूक्ष्मता का सौन्दर्य प्रतिबिम्बित होता है। संगीत के किसी विधि-विधान के स्वरूप का निरूपण सर्वप्रथम क्रियात्मक रूप में ही हुआ, उसके पश्चात् उसके सैद्धान्तिक रूप का निर्माण हुआ।

विधाता की सुन्दर सृष्टि के अतिरिक्त मनुष्य ने भी अति उत्तम संगीत की विधाओं का सृजन किया। मनुष्य की सुन्दर सृष्टि पुलकित स्त्रोत की भाँति है, जो संगीत के विभिन्न रूपों में विद्यमान है। इसके अनुभव का स्वरूप आदि निश्चित करना इसी सिद्धान्त का काम है। सिद्धान्त संगीत के विधिवत अध्यन का स्वरूप है, जो उसके सृजन, विलेाण आदि पर विचार प्रस्तुत करता है। सिद्धान्त संगीत

Scanned with CamScanner

के अनुभव का प्रमाण है। यह अनुभव संगीत के मूल तत्त्वों का उद्घाटन करता है। यह मूल तत्व ही सिद्धान्त के जनक है। संगीत का स्वच्छन्द रूप प्रकृति की देन है परन्तु इसका विधि-विधान और सिद्धान्त मानव द्वारा निर्मित होता है। संगीत का क्रियात्मक प्रदर्शन और सरंचना कुछ विशिष्ट नियमों पर आधारित है। यह नियम अक्सर प्राकृतिक गुणों पर आधारित होते है। इन नियमों का विधि-विधान और सिद्धान्त संगीत मर्मज्ञों द्वारा ही निर्मित होता है। क्रियात्मक संगीत कला का सिद्धान्त इन्ही गुणी जनों की कल्पनाओं और उपकल्पनाओं द्वारा होता है।

अमूर्त अनुभूति संगीत को मूर्त करना सैद्धान्तिक संगीत की देन है। मूर्त करने के लिये किसी भौतिक पदार्थ को माध्यम बनाना पड़ता है। सबसे उत्तम माध्यम वही हो सकता है जो हमारी अनुभूति को सबसे अधिक ग्रहण कर सके, जिससे हमारी आत्मा का सबसे स्पष्ट रूप प्रतिम्बित हो, जिसमें सर्वाधिक लोच हो। स्वर और शब्द हमारी आत्मा के सबसे अधिक निकट है। अतएव स्वर और शब्दों के माध्यम से सैद्धान्तिक संगीत को अंकित किया जाता है। स्वर और शब्द के अनन्तर ध्वनि में लोच और आध्यात्मिकता है। इसीलिये स्वर और शब्दों द्वारा निर्मित सैद्धान्तिक संगीत हमारे अनुभूतियों को मूर्त रूप प्रदान कराते है। विचारों की परस्पर संगति तार्किक सत्य है, जो सैद्धान्तिक स्वरूप बनाता है। भावना कल्पना आदि का सामंजस्य जिसे सत्य मानता है इतिहास उसे उस काल का प्रमाण मानता है। किसी भी काल के सिद्धान्त की उपयोगिता उस काल के बुद्धि-जीवियों का प्रसाद है। ऐतिहासिक सिद्धान्तों के अध्ययन से हमारा ज्ञान और अनुभव सुव्यवस्थित और संगठित हो जाता है। उस काल के विधाओं के स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है। सिद्धान्तों के अध्ययन से सांगीतिक भावना पुष्ट और संतुलित हो जाती है। सैद्धान्तिक संगीत मानव चेतना का अंश है। मूलतः यह चेतना सामूहिक है अतएव समाज उत्थान-पतन के साथ ही इसका भी उत्थान-पतन होता है। प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान तक इसके विधि-विधान का अध्ययन संगीत सिद्धान्त का आवश्यक अंग है।

लोक रूचि के परिष्कृत और विकसित होने से संगीत के विधि-विधान और सिद्धान्त में भी परिवर्तन आता रहता है। "संगीत के इतिहास में कला तथा शास्त्र दोनों का विवेचन अभीष्ट है। संगीत, कला तथा शास्त्र दोनो है। संगीत का माध्यम नाद है और यही नादात्मक कलाकृति प्रस्तुत करने के लिये तत्सम्बद्ध नियमों का अनुसरण आवश्यक है।"[7]

प्रत्येक युग नवीन आदर्शों को लेकर आता है। इन्हीं आदर्शों की स्वप्निल छाया में संगीत के नव सिद्धान्त का अविर्भाव होता है। संगीत शास्त्री अपने हृदय की अनुभूति को व्यक्त करने के लिये स्वर, ताल, लय, शब्द आदि अनेक साधनों द्वारा प्रत्येक युग में सांगीतिक सिद्धान्तों को नवोन्मेष द्वारा नवीन सृष्टि करते है। युग परिवर्तन के साथ हमारी अभिरूचि में भी परिवर्तन होता है। नवीन युग, नवीन सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति करता है। संगीत के सिद्धान्त उसके विकास के क्रम को जोड़ने की प्रक्रिया करते हैं।

सैद्धान्तिक संगीत जहाँ एक ओर भावाभिव्यक्ति का माध्यम है वहीं दूसरी ओर वह नवोन्मेष करने वाले के व्यक्तिव के प्रकाशन का साधन, संस्कारों एवं परम्पराओं का संवाहिक भी है। इसीलिये परिस्थिति, प्रयोजन और बौद्धिक स्तर के आधार पर संगीत की विधाओं के रूप एवं अर्थ बदलते रहते हैं। साथ ही इसके सैद्धान्तिक स्वरूप भी बदलते हैं। समयानुसार संगीत के विधि-विधान और सिद्धान्त उस काल के प्रचलित क्रियात्मक संगीत के अनुसार बदलते रहते है, तथा उस काल या स्थिति में सिद्धान्त के संसाधन के विषय समर्पित हो जाते है। समकालीन विधि-विधान के मूल स्त्रोत जब पूर्णतः ज्ञात हो जाते हैं तब सिद्धान्तों में एक धारा प्रवाह हो जाता है, और उसका रूप बदलने लगता है। नवोन्मेष द्वारा सिद्धान्तों का नवीन रूप गठित हो जाता है। कोई भी सिद्धान्त उस काल या स्थिति को परिभाषित करते है। उसमें पुनः संशोधन किया जाता है। भारतीय संगीत का इतिहास सैद्धान्तिक संगीत का इतिहास है। विभिन्न ललित कलाओं की भाँति यह कुछ चिरस्थाई लक्षणों वाली भावनाओं और अभिव्यक्तियों को ऐतिहासिक स्थिरांक कहते है, जिसके परिणाम स्वरूप प्राचीन काल का संगीत सिद्धान्त का रूप वास्तविक सा प्रतीत होता है।

Scanned with CamScanner

दूसरी ओर वह इतना अजनबी और पराया लगता है कि उसे समझना भी कठिन हो जाता है। संगीत की आत्मा चिरन्तन होने पर भी सैद्धान्तिक संगीत कलानुसार परिवर्तनशील है। परम्परा विधि-विधान और सिद्धान्तों में भी उसी के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। परम्परा की अवहेलना कुछ काल पश्चात् स्वतः और स्वभाविक रूप में हो जाती है। जिससे नवीनता और नव प्रयोग गतिशील रहते है। क्रियात्मक संगीत का जो रूप परम्परागत प्राप्त होता उसके विधि-विधान और सिद्धान्त में भी कलानुसार नवोन्मेष होता चला आ रहा है। नव-विचार और कल्पना नवोन्मेष के प्रमुख तत्व हैं। सात स्वरों में और शब्दों द्वारा, अपनी भावनाओं व ज्ञान द्वारा, संगीत शास्त्रियों ने कितने ही सैद्धान्तिक शास्त्रों की रचना की है और करते आ रहे है। "शाश्वत नियमों में बँधकर भी कलाकार के निजी व्यक्तित्व को बांधने वाली सीमा भारतीय संगीत में कभी नहीं रही।"[8] विलक्षणता में प्रगति और प्रगति में परिवर्तन सन्निहित है। इसी प्रगति से कलाकार और शास्त्रकार संगीत के मूल सिद्धान्तों का पालन करते हुए अपनी-अपनी प्रतिभानुसार सिद्धान्तों का निर्माण करते है। सांगीतिक सिद्धान्त बनाना और लेखन द्वारा प्रस्तुत करना केवल कला ही नही, बल्कि एक शिल्प भी है और एक कौशल भी है।

परम्परागत प्राप्त सांस्कृतिक कला में हमें विभिन्न ललित कलाएँ दृग्गोचर होती है। जिनमें संगीत कला सर्वाधिक प्राचीन एवं वैविध्य ललित कला है। जिसका विधि विधान और सिद्धान्त अति पुरातन काल से परम्परागत बनता आ रहा है। "परम्परा संगीत का अर्थ ही है, परम्परा से सम्बन्धित अथवा वह संगीत जिस पर परम्परा की छाप पड़ी।"[9] संगीत की अनेक सैद्धान्तिक परम्पराएँ प्रचलित है, जो अपने आप में परिपूर्ण है। इनका मुख्य उद्देश्य स्वर, लय-ताल की साधना ही है। यह निजी विशिष्टता एवं मौलिकता से सम्पन्न है, परन्तु इनमें नवोन्मेष का समावेश होता आ रहा है। सिद्धान्त का काम सांगीतिक तत्वों की सत्यता का निर्णय करना है। परम्परागत सिद्धान्त अनेक सत्य और मान्यता प्राप्त वाक्यों का समुदाय है। इस समुदाय में विद्वानों के चिन्तन की अपनी स्वतन्त्रता है। जब विचारों को लेखन द्वारा रूप दिया जाता है तब सैद्धान्तिक संगीत का जन्म होता है। किसी शास्त्रकार का सिद्धान्त उसके परम्परागत ज्ञाप्त ज्ञान और उसके मस्तिष्क की सच्ची प्रतिलिपि है।

विधि-विधान और सिद्धान्त जब सर्वमान्य हो जाते है, जब वह परम्परा का रूप धारण कर लेते हैं और कई पीढ़ियों तक वह परम्परा चलती है। पीढ़ी दर पीढ़ी इसमें कुछ न कुछ परिवर्तन होता रहता है। परम्परा और नवीन प्रयोग से सैद्धान्तिक संगीत सदा गतिशील रहती है। संगीत विषयक कुछ तथ्य और सिद्धान्त ऐसे भी है जो परम्परागत या अन्धविश्वास से इसलिए चले आ रहे है क्योंकि बहुत से लोग मानते है या किताबों में लिखा है। ऐसे कई परम्परागत सिद्धान्त प्रचलित है, जिसमें पुनः संशोधन की सम्भावना है, जैसे संगीत का जन्म, स्वरों में रंगों का दर्शन रागों का समय सिद्धान्त, राग-रागिनी वर्गीकरण आदि ऐसे परम्परागत सिद्धान्त बन गए है परन्तु इनका यदि विश्लेषणात्मक अध्ययन करें तो वर्तमान में केवल औपचारिक परम्परा सी लगती है। इन परम्पराओं पर पुनः विचार करने और नवीन संशोधित सिद्धान्त बनाने की आवश्यकता प्रतीत होती है। परम्परागत प्राप्त सिद्धान्त अगर प्रगति के रास्ते में रुकावट बन जाए तो समय की मांग के अनुसार उस परम्परा में स्वतः ही नवोन्मेष द्वारा परिवर्तन होता जाता है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि आधुनिक काल में नवोन्मेष समय की आवश्यकता है, लेकिन अनिवार्य नही है। अपने संस्कारों और जड़ों से जुड़ा रहना चाहिये। परम्परा के अन्तर्गत ही नवोन्मेष सफल प्रयोग है।

सारांशतः सिद्धान्त एक ऐसी विधा है जो आगामी पीढ़ी को नवनिर्माण की प्रेरणा देती है। सैद्धान्तिक संगीत के ज्ञात होने पर रचनात्मक प्रेरणा बढ़ती है। पूर्व सिद्धान्त से ज्ञात होता है कि अतीत में क्यों यह सिद्धान्त बना था, वर्तमान में इसका क्या प्रभाव पड़ता है। संगीत के किसी ऐतिहासिक तथ्यों को पूर्णरुपेण समझना हो या कुछ शंका हो तो सैद्धान्तिक संगीत ही मार्गदर्शन कराता है। सैद्धान्तिक संगीत किसी भी क्रियात्मक संगीत का एक पहलू है। सर्व प्रथम किसी क्रियात्मक संगीत का चयन होता है, उस पर चिन्तन किया जाता है, तत्पचात् उसका

Scanned with CamScanner

सिद्धान्त निर्धारित किया जाता है। विधि-विधान और सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में सैद्धान्तिक संगीत का परिगठन होता है, तथा इन्ही के माध्यम से शास्त्रों का निर्माण होता है।

सन्दर्भ

1) नारायण पुष्पम, (2013), अंक-7 भैरवी-शोध पत्रिका, मिथिलांचल परिषद, स्नातकोर संगीत एवं नाटय् विभाग ललित नारायण मिथिला विश्व विद्यालय, पृष्ठ संख्या 13।
2) नरेन्द्रनंद, (2003 फरवरी) पत्रिका ज्ञान, दिव्य ज्योति संस्थान, दिल्ली, पृष्ठ संख्या 27।
3) नवल जी (1969), नालन्दा विशाल सागर, आदर्श बुक डिपो, करोल बाग, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 1447।
4) वर्मा रामचन्द्र, (1964), मानक अंग्रेज़ी हिन्दी कोश, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग (प्रथम संस्करण 1964) 1403।
5) Pathak, R.C. (1965), Bhargava's standard Illutrated Dictionary of English language (Anglo-Hindi Edition), Gaighal Banaras (1965), P.N. 658.
6) मिश्रा अरूण, (प्रथम संस्करण 2002), भारतीय कंठ संगीत और वाद्य संगीत, गायन वादन सुमेल, कनिष्का पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर अंसारी रोड, दरिया गंज नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 76।
7) परांजपे शरच्चंद (तृतीय संस्करण 1994) भारतीय संगीत का इतिहास, चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी, पृष्ठ संख्या 76।
8) शर्मा भगवत शरण, (1983), स्वर मालिका, संगीत कार्यालय हाथरस, उ.प्र., पृष्ठ संख्या प्रस्तावना पृं. रवि शंकर।
9) चौबे, सुशील कुमार, (1971), संगीत के घरानों की चर्चा, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान (हिन्दी ग्रन्थ अकादमी प्रभात) लखनऊ, पृष्ठ संख्या-9।

Scanned with CamScanner

वाग्गेयकार : संगीत रत्नाकर के संदर्भ में

चंद्रिका कुमारी

गायन, वादन, नृत्य या इससे सम्बन्धित शास्त्र या कोई भी मंचीय कला के प्रयोक्ता और श्रोता दूसरे शब्दों में प्रयोक्ता और सामाजिक के बीच सम्बन्ध होने के लिए गुणों के निरूपण का आधार वाग्गेयकार के लक्षण से प्राप्य है।

शारंगदेवकृत संगीत रत्नाकर में वाग्गेकार के लक्षण, प्रकार और गुण

संगीतजन को विदित है कि शारंगदेवकृत संगीत रत्नाकर के प्रथम स्वरगत अध्याय स्वर सम्बन्धी है। द्वितीय अध्याय राग विवेकाध्याय राग विषय पर है। तृतीय अध्याय प्रकीर्णक अध्याय के उपोद्घात में कहा गया है कि स्वर और राग का निरूपण करने के बाद विद्वानों में श्रेष्ठ शारंगदेव अनाकुल (असंकीर्ण, जिसका लक्षण एक दूसरे से मिश्रित नहीं है) कानों को तृप्त और हर्षित करने वाले देशी और मार्ग के आश्रय वाले प्रकीर्णकों का निरूपण करते है। प्रकीर्णक कहने का तात्पर्य यह है कि इससे निरूपित विषयों का ग्रंथ के विषय के साथ यानी स्वर राग प्रबन्ध ताल, वाद्य और नृत्य में से किसी में भी समावेश नहीं हो सकता। बल्कि इसमें पहले अध्याय में स्वरों का निरूपण करके जाति आदि और द्वितीय में रागों का प्रतिपादन हुआ। राग की अभिव्यक्ति हेतु आलप्ति का लक्षण अपेक्षित है। राग लक्षण में गमकों का उपयोग कहा जा चुका है। इसलिए गमकों का लक्षण भी अपेक्षित है। सिर्फ लक्षण द्वारा रागों का सही ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए वाग्गेयकार आदि के लक्षण भी जरूरी है और भारतीय परम्परा में संगीत का मूल यन्त्र कण्ठस्वर ही है। अतः गायन का महत्व ज्यादा है। यही कारण है कि प्रकीर्णक अध्याय में वाग्गेयकार का लक्षण और उसके गुणों को सर्वप्रथम निरूपित किया गया है।

प्रकीर्णक अध्याय में इसलिए उपोद्घात के तुरन्त बाद द्वितीय श्लोक से ही वाग्गेयकार का लक्षण बताया गया है जो वाक् उच्चारण से मातु और गये शब्द धातु कहा जाता है। जो वाक् और गेय दोनों की रचना करता है उसे वाग्गेयकार कहते है।[3]

तात्पर्य यह है कि गायन प्रक्रिया में गीत के गेय अंश पद पर आधारित होते है और पद की समुचित भाषा को समझते हुए अर्थ के अनुसार भाव रस अनुरूप स्वरावलियों का चयन या राग का चयन कर उसे गायन के प्रस्तुति योग्य बनाने की प्रक्रिया ही वाग्गेयकार का प्रमुख कर्त्तव्य है। अतः जो सहृदय गीत के गेय पक्ष और गेय का आधार पद दोनों की रचना में सक्षम हो वही वाग्गेयकार है या यही वाग्गेयकार का लक्षण है।

उत्तम वाग्गेयकार के लक्षण

(1) शब्दानुशासन अर्थात् व्याकरण शास्त्र का ज्ञान एवं साथ ही वाचन में प्रयुक्त या गेय अंश के पद रचना में शब्दों का अनुशासित प्रयोग में विज्ञ (2) अभिधानप्रवीणता अर्थात् विभिन्न अभिधान शब्दकोश इत्यादि के प्रयोग में विचक्षण (3) छन्दः प्रभेद वेदित्व छन्द के विभिन्न भेद, उपभेद के ज्ञाता (4) अलंकारेशुकौशलम् अर्थात् श्लेश, यमक आदि शब्दालंकार और अर्थालंकार के प्रयोग में कुशल। (5) रसभाव परिज्ञान अर्थात् रस भाव का परिपक्व ज्ञाता अर्थात् स्थाई भाव श्रृंगार आदि रस और विभाग अनुभाव संचारी व सब नव स्थाई भाव में अनुभव सिद्धता। (6) देशस्थितिषु चातुरी अर्थात्

शोधछात्रा, वि0वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0 ना0 मि0 वि0 वि0, दरभंगा

Scanned with CamScanner

मगध, व कौशाम्बी, उत्कल, बंग आदि प्रदेशों की स्थिति की जानकारी। (7) अशेषभाषाविज्ञानम् अर्थात् जब विभिन्न प्रदेशों की रीति-नीतियों की जानकारी रखना है तो सिद्ध है कि उसे सभी (अशेष) भाषाओं का शास्त्रीय वैधानिक ज्ञान होना चाहिए। (8) कलाशास्त्रेषुकौशलं अर्थात् कला शास्त्रों में कुशलता होनी चाहिए अर्थात् सभी कलाओं के लक्ष्य (प्रयोग) ज्ञान के साथ लक्षण (शास्त्र) का ज्ञान होना आवश्यक है। (9) तौर्यत्रितै चतुर्य अर्थात् गायन, वादन, नृत्य तीनों विषयों का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है। (10) हृदशारीरशालिता अर्थात् सुन्दर मनोहर शरीर या देह सुषमा या आकर्षक व्यक्तितव मंच प्रदर्शन के लिए जरूरी होता हैं। (11) लयतालकलाज्ञानं अर्थात् विलम्बितद्रुत आदि लय सभी ताल और ताल की कलायें सशब्द-निशब्द क्रियाओं में प्रवीण होना चाहिए। (12) विवेकों अनेक काकुषु विभिन्न प्रकार के काकुओं के प्रयोग में विवेक होना चाहिए। (13) प्रभुत प्रतिभा उद्भेद भाक्तव अर्थात् विलक्षण प्रतिभा के पात्राता हो। (14) सुभगगेयता आकर्षक ढंग से गाने में पटु। (15) देशीरागेषु अभिज्ञान विभिन्न प्रकार के देशी रागों का ज्ञान होना चाहिए। (16) सभाजये वाक पटुत्व, किसी भी सभा को जीतने में वाकपटुता होनी चाहिए। (17) रोष द्वेष परित्याग क्रोध और ईर्ष्या का त्याग होना चाहिए। (18) साद्रत्व चित्त की आद्रता या सरसता होनी चाहिए। (19) उचितज्ञाता औचित्य का विधिवत ज्ञान होना चाहिए। (20) अनुछिष्ट उक्ति निर्बन्ध अर्थात् वह ऐसी रचना न करें या ऐसी उक्तियों का निर्माण न करें जो कि पहले से ही कहीं गई हो। (21) नूतन धातु विनिर्मिति अर्थात् नवीन धातु (स्वर) की रचना करना आना चाहिए। (22) सही समझना। (23) प्रबन्धेशु प्रगल्यता विविध प्रकार के प्रबन्ध रचना और ज्ञान में परिपक्व होना चाहिए। (24) द्रुतगीत विनिर्माण शीघ्रता से गीत रचना के योग्य होना चाहिए। (25) पदान्तर विदग्धता अर्थात् निर्माण में पटु होना चाहिए। प्रो० अनिल बिहारी व्यौहार से वार्ता के माध्यम से ज्ञात हुआ कि प्रबन्ध में रूपक की दोनों प्रकारों का संकेत है जो कि कठिन है अतः ऐसा बोध है कि शारंगदेव पदान्तर रूपक जो कि अत्यन्त कठिन था उसमें वाग्गेयकार का विदग्धता की ओर संकेत कर रहे है। (26) त्रिस्थानगमक प्रौढ़ि अर्थात् मन्द्रमध्यतार तीनों सप्तक में गमक का प्रयोग करने में योग्यता होनी चाहिए। (27) विविधआलाप्तिनैपुणम् अर्थात् रूपकालप्ति और रागालप्ति में निपुण होना चाहिए। (28) अवधान एकाग्रचित होना कला साधना के लिए अत्यन्त आवश्यक है। अतः अवधान भी वाग्गेयकार के अन्यतम गुणों में एक है।[6]

इस प्रकार संगीत रत्नाकर में वाग्गेयकार के 28 गुणों में प्रमुख रूप से एक सुमनस सुविज्ञ तथा संगीत के शास्त्र प्रयोग दोनों पक्षों में निपुण एवं सुसामाजिक सांस्कृतिक विचार के धनी इंसान को वाग्गेयकार की उपाधि मान्यता देने की बात कही गई है। सांगीतिक दृष्टि से गायन, वादन, नश्त्य के लय, ताल पक्ष में प्रवीण तो होना ही है और साथ ही देशी राग और सांगीति प्रबन्ध की जानकारी रागो की विविध आलप्ति तीनों स्थानों में गमक प्रयोग सहित सुन्दर ढंग से गायन की क्षमता भी जरूरी है और उसे नित नवीन सांगीतिक रचनाओं में भी कुशल होने की आवश्यकता है। उक्त सांगीतिक गुणों के साथ गीत के पद पक्ष में नितनवीन रचना के लिए विविध शब्दकोश से शब्द संग्रह करते हुए व्याकरणनिष्ठ छन्द शास्त्र, अलंकार शास्त्र का रससिद्ध ज्ञान जरूरी है।

इसके अतिरिकत मानवीयधारा पर उसमें मानसिक रूप से साम्यता भी होनी चाहिए। अर्थात् व्यक्तिगत रागद्वेष का परितयाग, सामाजिक परिवेश में विभिन्न देशस्थिति भाषा का ज्ञान, सभा को जीतने की क्षमता, वाकपटुता और दूसरे के हदय का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी करने आना चाहिए। उक्त सभी गुण उत्तम वाग्गेयकार के लिए आवश्यक है।

संगीतरत्नाकर में मध्यम वाग्गेयकार का लक्षण

जिसका गेय पक्ष (स्वर, लय, ताल रचना) उत्तमकोटि का हो किन्तु पद रचना में कमजोर हो वह वाग्गेयकार मध्यम प्रकार है एवं गेय और पद रचना (धातु-मातु) में प्रवीण होते हुए भ यदि विविध प्रकार के प्रबन्ध रचना में पटु न हो तो वह वाग्गेयकार मध्यम श्रेणी का है।

संगीत रत्नाकर में अधम वाग्गेयकार का लक्षण

जिसकी शब्द रचना शक्ति उत्तम हो किन्तु स्वर योजना कमजोर हो वह अधम श्रेणी का वाग्गेयकार है।

Scanned with CamScanner

गोविन्द गीतावली की सार्थकता

डॉ.रेखा कुमारी

गोविन्ददास संगीत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उन्होंने शताधिक पदों की रचना कर इसे प्रमाणित किया। उनकी गीतावली मुख्य रूप से एक गीति काव्य के रूप में प्रचलित है जिसका प्रचार-प्रसार गीति-शैली के अनुरूप ही हुआ है। गीति-काव्य की संगीतात्मकता, अभिव्यक्ति और रागात्मकता ये तीनों इनके प्रेरक तत्त्व रहे हैं। अतः यह स्पष्ट होता है कि संगीतात्मकता गोविन्द-गीतावली की भाषा की प्राणवत्ता है। गीति-काव्य में संगीतात्मकता के दो प्रमुख तत्त्व हैं - एक स्वर-संगति और दूसरा शब्द-संगति। इन काव्य ग्रंथों को अध्ययन करने से हमें यह जानकारी प्राप्त होती है कि इस गीतावली में इन दोनों रूपों का अद्भुत सन्निवेश किया गया है। यथार्थतः गोविन्ददास की लोकप्रियता को मूल सिद्धांत ही संगीतात्मकता है।

मैथिली साहित्य में गोविन्द दास जी के पद मूलतः गोविन्द-गीतावली, श्रृंगार भजनावली, गोविन्द-गीतांजलि, और गोविन्द भजनावली में हमें प्राप्त होता है। गोविन्द-गीतावली में मुख्यतः श्रृंगारिक एवं भक्ति-प्रधान रागबद्ध गीतों का संकलन किया गया है। इस गीतावली में जितने प्रकार के गीत उपलब्ध हैं उन सभी में महाकवि ने राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओं का वर्णन किया है। इन गीतों के अध्ययन करने के बाद कुछ साहित्यकारों ने यह प्रश्न उठाया है कि प्रेम सम्बन्धी गीत एवं श्रृंगारिक कविता भक्तिमय कैसे हो सकती है?, परन्तु मेरे अनुसार इस शंका का समाधन इस प्रकार है। इनके काव्य को पढ़ने के बाद एक अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है जिसे अंग्रेजी भाषा में 'पोएटिक प्लेजर' कहा जाता है। काव्य-शास्त्र के अनुसार जितने प्रकार के रस है उन सभी का अलग-अलग स्थाई भाव हैं। काव्य-साहित्य में दो प्रकार के रसों का वर्णन किया गया है - लौकिक एवं अलौकिक, जबकि संगीत में आचार्य भरत मुनि ने अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में आठ प्रकार के रसों का वर्णन किया है जो श्रृंगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, विभत्स और अद्भुत हैं। अभिनव गुप्त ने इन रसों में 'शान्त' रस को जोड़कर उन्होंने रसों की संख्या नौ माना है जिसे 'नवरस' की संज्ञा दी जाती है। पंडित जगन्नाथ ने इन रसों के अलावा भक्ति एवं वात्सल्य रस को जोड़कर उन्होंने कुल रसों की संख्या ग्यारह माने हैं। श्रृंगार रस का स्थाई भाव 'रति' एवं 'प्रेम' है तो यहां हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि प्रेम के कितने प्रकार होते हैं। आचार्यों ने प्रेम को चार भागों में विभाजित किया है- दाम्पत्य प्रेम, सख्य प्रेम(सखा प्रेम), दास्य प्रेम और वात्सल्य प्रेम। प्रेम विश्लेषण से हमें यह ज्ञात होता है कि गोविन्द गीतावली में वर्णित राधा-कृष्ण के साथ सख्य प्रेम था। अतः यहां राधा केवल नाम के लिए है जो एक आत्मा के रूप में है और श्री कृष्ण परब्रह्म परमात्मा रूप में हैं जिसके अन्तर्गत सूक्ष्म विचारों से अध्ययन करने से हमें यह प्राप्त होता है कि यह आत्मा एवं परमात्मा के मधुर मिलन को सूचित करता है। श्रृंगारिक वर्णन केवल प्रदर्शन के लिए प्रयोग किया जाता है किन्तुआत्मा एवं परमात्मा के मिलन के लिए उत्कंठा, लालसा और अभिलाषा को व्यक्त करता है। इन का वर्णन गोविन्द दास जी ने इन पदों के माध्यम से किया है-

---

पूर्व शोध छात्रा, वि०वि० संगीत एवं नाट्य विभाग, ल० ना० मि० वि० वि०, दरभंगा

Scanned with CamScanner

आधक-आध-आध दिट्टि अंजल जब पेखल कान।
कत शत कोटि कुसुम शरै जरजर रहत कि जाएत परान' ।।
अथवा-दर्शन नोर नयन युग शांप। करइत कोट दुइ भूज काँपि।
दूरी करू हैं सखि तूअ परसंग नामहि जकर अवश करू अंग' ।।

इन दोहों से स्पष्ट हो जाता है कि राधा और कृष्ण के बीच वह प्रेम था जो आत्मा एवं परमात्मा के मिलन के लिए रहता है। अतएव गोविन्द दास के गीतों में श्रृंगार का केवल आवरण है लेकिन उसकी प्रस्तुति भक्तिमय रूपों में की गई हैं।

गोविन्द दास जी ने वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार करने के लिए अपने पदों की रचना की इसलिए उनके पदों में श्रृंगार रस की प्रधानता है और उसमें भक्ति की प्रगाढ़ता है। इस गीतावली में जितने पदों का संग्रहण किया गया है वे सभी छंदबद्ध एवं राग बद्ध हैं और इसके साथ ही सभी पद श्रृंगारिक भक्ति पर हैं। वे सर्वत्र अपने आप को राधा-कृष्ण के बीच हुए उन मधुर लीलाओं को साक्षी मानकर उनका वर्णन अपने ग्रंथों में पदों के माध्यम से किया है।

प्रोफेसर रमानाथ झा ने गोविन्द दास जी के गीतों को 'नारिकेल' फल के समान कहा है[3]। मैथिली कवि-कोकिल विद्यापति की रचनाओं में जहां भाषा की स्वभाविकता, पद की सरलता और अर्थ की स्वच्छता मिलती है जिसे संस्कृत में 'प्रसाद' गुण कहा जाता है। यह गुण गोविन्द-गीतावली के पदों में नहीं पाई जाती है। इन पदों के अध्ययन करते समय अनेक जगहों पर ऐसा प्रतीत होता है कि शब्द में जैसे अर्थ खो गया है। पाठक आशय स्पष्ट होगा तब जाकर उसके अध्ययन से मंत्रमुग्ध एवं रसों की प्राप्ति कर पाएगा यही कारण है कि उनकी कविताएं कभी भी लोकप्रिय नहीं हुई तथा मिथिला में एक प्रकार से उनके गीतों का प्रचार-प्रसार समाप्त ही हो गया[4]। इन्होंने ही दूसरे जगह गोविन्द-गीतावली का वर्णन करते हुए कहा है कि -गोविन्द दास जी के गीतों का महत्व अलग-अलग जगहों पर दुरुह है, कष्ट साध्य तो प्रायः सभी जगहों पर है। काव्य में जिसे प्रसाद गुण कहते हैं वह इनके काव्य में बिल्कुल नहीं रहता है। इस कारण उनके गीतों का रसास्वादन उस जगह पर नहीं हो पाता है जैसे दूसरे कवियों के गीतों का रसा स्वादन किया जाता है[5]।

पंडित प्रवर सतीश चन्द्र राय ने कहा है- यदि इस स्थिति में गोविन्द दासजी का दुरुह उत्कृष्ट पदावली की यदि विस्तृत व्याख्या की जाए और उसका रस विवेचन कर दिया जाए तो सहृदय पाठक समाज में उसका समुचित आदर होने में विलम्ब नहीं होगा[6] और जिज्ञासु पाठक उसका भरपूर आनन्द उठा सकेगे। यही सोचकर उन्होंने कई पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा इसे सुलभ बनाने का प्रयास किया। उनके द्वारा संकलित किये गये कुछ प्रशंसनीय प्रबंधों के नाम इस प्रकार है-

क. प्राचीन पदावली और पदकर्तृगणः गोविन्द दास,

ख. वैष्णव पदावली रसास्वादन, और

ग. गोविन्ददासेर पदावली रसास्वादन[7] ।

सतीश चन्द्र राय के पश्चात् अनेक बंगाली विद्वानों ने गोविन्द दास के गीतावली के विभिन्न संस्करणों में व्याख्या के साथ प्रकाशित करवाया। मिथिला क्षेत्र में सर्वप्रथम प्रोफेसर ईशनाथ झा ने इस पदावली के सम्बन्ध में कार्य किया[8] और अनके बाद गोविन्द झा ने 125 गीत-पदों की व्याख्या और पाठोद्धार का कार्य किया[9]। उनके गीतों को समझने के लिए थोड़ा पाण्डित्य होना चाहिए तब जाकर उनके गीतों का अर्थ साधारण तरीके से समझा जा सकता है। पाण्डित्य के साथ-साथ काव्य-जगत के तत्कालीन रूढ़ियों का ज्ञान और उसके साथ ही तत्कालीन में अतिप्रचलित पयार्य बहुल और अर्थ बहुल संस्कृत-शब्द राशियों का ज्ञान होना अति आवश्यक है। गोविन्द दास जी के द्वारा रचित एक गीत इस प्रकार है-

रोदित राधा श्यामक कोर।
हरि-हरि कहाँ गेल प्राणनाथ मोर।।
जानब हे सखी प्रेम अगे आन।
नागरि को नगर नहीं जान।।
मुरूछल नागर मुरूछली राई।
विरह बेआकुल कल नहि पाई।।
दारून विरहे नहीं हेरइ राई।
सहचरि चीत-पुतरि-समचाही।।

Scanned with CamScanner

एसन हरेइत रहिक रीत।
गोविन्द दास चीत समकीत[9]।।

इस गीत का मर्म अर्थ वही समझ पाएगा जिन्हें यह जानकारी है कि जिव्योन्माद क्या है?, महाभाव क्या है?, यहां राधा अपने आपको कृष्ण समझकर कृष्ण के भाव में व्याकुल है। इस गीतों के संबंध में आचार्य रमानाथ झा का मानना है कि इसमें प्रसाद गुण का अभाव है।

वैष्णव सम्प्रदाय के प्रायः सभी समीक्षकों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि कवि विद्यापति, चंडीदास, कबीरदास, सूरदास, गोविन्द दास इत्यादि महाकवियों के द्वारा लिखी गई जितने भी गीत प्रचलित हैं उसमें से काफी हीन कोटि के नचकली कवियों की रचना है। इस प्रकार गोविन्द गीतावली एक प्रसिद्ध काव्य-गीत का ग्रंथ है लेकिन उसका भाषा समान्य कवियों के समझ में नहीं आने के कारण उसका अधिक प्रचार-प्रसार नहीं हो सका और न ही इस क्षेत्र में ज्यादा संगीत के शोधार्थियों के द्वारा शोध-कार्य किया गया है। वर्तमान समय में यह धीरे-धीरे विलुप्त होता हुआ जा रहा है अतः इस प्राचीन धरोहर को सहेज कर रखना अतिआवश्यक है।

संन्दर्भ सूचीः-

1. गोविन्द गीतावली, पद संख्या - 107, पृष्ठ संख्या-73
2. वही, पद संख्या-191, पृष्ठ संख्या-124,
3. झा, रमानाथ, प्रबंध संग्रह, पृष्ठ संख्या-143
4. झा, चन्दा, श्रृंगार भजन गीतावली, भमिका से,
5. झा, रमानाथ, प्रबंध संग्रह, पृष्ठ संख्या-139,
6. राय, सतीश चन्द्र, पदकल्पतरू, पृष्ठ संख्या-58,
7. साहित्य परिषद, पत्रिका, वर्ष 1911, पृष्ठ संख्या-2
8. झा, रमानाथ, मैथिली प्रचीन गीत संग्रह, पृष्ठ संख्या -223
9. झा, गोविनद दास, गोविन्द दास भजनावली, पृष्ठ संख्या- 8
10. गोविन्द गीतावली, पद संख्या - 179, पृष्ठ संख्या-117

Scanned with CamScanner

संगीत का बेतिया घराना

डॉ0 कामेश्वर कुमार

मुगल दरबार के पतन के पश्चात् घरानेदार गायक देसी रियासतों में आश्रय पाने लगे। मुगल दरबार के महफिलों में बेतिया नरेश गजसिंह (1659-1694) भी अक्सर शरीक हुआ करते थे। गजसिंह विशेषकर ध्रुपद प्रेमी थे। जिन्हें अपने दरबार के लिए अच्छे ध्रुपदियों की तलाश रहती थी। गजसिंह ने कुरूक्षेत्र के निकटवर्ती अमोलक नामक ग्राम के दो संगीतकार चमारी मल्लिक (गायक) और कंगाली मल्लिक (बीनकार) जिनका दिल्ली दरबार में आना-जाना होता था, को बेतिया लाकर अपना दरबारी संगीतज्ञ नियुक्त किया।[1] कहते है कि बेतिया घराने में संगीत का श्री गणेश यही से होता है। जबकि पण्डित इन्द्रकिशोर मिश्रा जी से बातचीत के क्रम में पूछे जाने पर इन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि मेरे पूर्वजों के कथनानुसार 16वीं सदी में पं0 युवराज मल्लिक बीनकार एवं यशराज मल्लिक ध्रुपदिया मुगल दरबार से दो कलाकार लाए गए थे। जिनसे बेतिया घराने का निर्माण हुआ, जो मूल रूप से सेनी घराने के हिन्दु वंश परम्परा से आते हैं।

महाराजा गजसिंह के बाद बेतिया के शासको में मुगलकिशोर सिंह (1762-85) संगीत प्रेमी हुए। ये स्वयं परवावज के शिक्षा प्राप्त किए थे। इनके दरबारी संगीतकारों में मुकुंद मल्लिक (गायक) तथा जुमराज मल्लिक (बीनकार) के नाम उल्लेखनीय हैं। युगल किशोर के पुत्र राजा वीर किशोर सिंह (1785-1816) ने संगीत को संरक्षण दिया। इनके दरबार में पाण्डे मल्लिक एवं गुरू मल्लिक थे। इनके समय में सुदूर प्रांतों से ध्रुपदियों तथा पखावजियों का आगमन होने लगा। अनुमानतः सन् 1789-90 ई. में बनारस के पंडित शिव दयाल मिश्र नेपाल से बेतिया आए। शिव दयाल जी ने नेपाल के दरबारी गायक रहीम सेन तथा करीम सेन से बहुत कष्ट उठाकर ध्रुपद की तालीम प्राप्त कीं आपने कुमार आनन्द किशोर तथा नवल किशोर को ध्रुपद का प्रशिक्षण दिया।[2] दोनों ही कुमारों को चारों वाणियों की उत्तम शिक्षा मिली। इन्हे इन वाणियों में बंदिशों की रचना पद्धति का भी पूर्ण ज्ञान था।

बेतिया नरेशों में बेतिया घराने के सबसे सशक्त स्तंभ महाराजा आनंद किशोर सिंह (1816-38 ई.) हुए। ये न केवल चोटी के गायक ही बल्कि रचनाकार भी थे। इनके दरबार में विख्यात सेनिया उस्ताद प्यार खाँ और ताज खाँ आते रहते थे। कहते हैं, आनंद किशोर प्यार खाँ के शार्गिद हो गए। इनके विषय में यह प्रसिद्ध है, कि महाराजा आनंद किशोर अपने आश्रित गायकों को पाँच ध्रुपद तथा पाँच धमार की 'चीजों' की तालीम देकर ही नित्य मुख-प्रक्षालन किया करते थे।

आनंद किशोर के बाद नवलकिशोर (1833-55) तथा राजेन्द्र किशोर (1855-83) ने भी बेतिया घराने की वृद्धि में हाथ बटाया। आनंद किशोर की तरह नवल किशोर भी उच्चकोटि के ध्रुपदकार थे। इनके समय में गोपाल मल्लिक, बाके मल्लिक, गोरख मिश्र, कुंजबिहारी मल्लिक, फजल हुसैन, काले खाँ तथा मेंहदी हुसैन प्रभृति आला दरजे के ध्रुपदकार तथा बीनकारों से दरबार सुशोसित था। आनंद किशोर और नवल किशोर के प्रमुख शिष्यों में बख्तावरजी, शिवनारायण जी, जयकरण मिश्र तथा गुरू प्रसाद मिश्र थे। इनसे जयकरण मिश्र सबसे गुणी थे। इन्हें

पूर्व शोधछात्र, विश्वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0 ना0 मि0 वि0 वि0, दरभंगा

Scanned with CamScanner

दो हजार ध्रुपद कंठाग्र थे। जयकरण मिश्र के प्रमुख शिष्य बनारस के भोला नाथ पाठक थे। प्रख्यात घमार गायक विश्वनाथ राव, शिवनारायण मिश्र के शिष्य थे। विश्वनाथ राव के प्रमुख शिष्य काशीनरेश के दरबारी गायक वेणुमाधव मिश्र थे जिनका ध्रुपद सुनकर उस्ताद फैयाज खाँ इतने प्रभावित हुए कि प्रतिज्ञा किए कि बनारस में वह ध्रुपद कभी नहीं गायेंगे। कलकत्ता के जोड़ासांको निवासी ठाकुरों के दरबार में प्रसिद्ध संगीतकार श्यामनारायण मिश्र ने भी शिवनारायण जी से तालीम ली। बंगाल के ख्यातनाम ध्रुपदिये राधिका प्रसाद गोस्वामी ने ध्रुपद की शिक्षा गुरू प्रसाद मिश्र से प्राप्त की।

विष्णुपुर घराना के ध्रुपद गायकों में मुख्यतः बेतिया के ध्रुपदियों के शिष्य रहे। इनमें विष्णुपुर घराना के गोपेश्वर बनर्जी, राम प्रसन्न बनर्जी, आशुतोष चटर्जी बीनकार शिवेंद्रनाथ बसु आदि प्रमुख थे।[3]

पश्चिम बंगाल में जो ध्रुपद गाए जाते है। उनमें पचास प्रतिशत बंदिश बेतिया घराने के है। बेतिया के मल्लिक गायकों में कीर्तिस्तंभ कुंजबिहारी मल्लिका खंडारबानी के विशेषज्ञ माने जाते थे। 1936 ई0 में अखिल भारतीय संगीत समारोह मुजफ्फरपुर में इनका अमूतपूर्व गायन हुआ जिसकी भरपूर सराहना पंडित ओंकारनाथ ठाकुर एवं अन्य संगीतकारों ने की थी। आनंद किशोर रचित ध्रुपद ग्रंथ 'दुर्गा आनंदसागर' जीर्णावस्था में है। इस हस्तलिखित ग्रंथ में विभिन्न रागों में लगभग पौने दो सौ रचनाए है। जिनमें पचास-साठ अप्रचलित रागों की बंदिशें जैसेः- सुरह, शंख, लच्छासाख, देवसाख आदि। कहते है, आनंद किशोर की कुल रचनाए चौदह सौ है और नवल किशोर की मात्र छः सौ। चारों बाणियों में प्रचलित प्रायः सभी तालों में निवद्ध ध्रुपद की बंदिशें केवल बेतिया घराने में उपलब्ध है। जैसेः- चौताल, आड़ा-चौताल, बिताल, शिखरताल, ब्रह्मताल, रूद्रताल, विष्णुताल, गणेशताल, सूलफाख्ता झपताल, तेवरा सादरा आदि।

बेतिया राज के पराभव के बाद राज-संरक्षण समाप्त हो जाने के कारण बेतिया घरानो के ध्रुपदियों की परम्परा भी मिटने पर है। वर्त्तमान समय में दो खेमों में बँटे हैः-

एक का प्रतिनिधित्व बानू छापरा मुहल्ले के निवासी महंथ मिश्र करते थे किंतु इनका देहावसान के बाद इनके सुपुत्र इंद्रकिशोर मिश्र इसका प्रतिनिधित्व करते है।

दूसरे का प्रतिनिधित्व राजकिशोर मिश्र करते थे। इनका भी देहावसान मई 2010 में लम्बी बीमारी के बाद लगभग 6-7 वर्षे के बाद हुआ।

बेतिया घराना के प्रतिनिधि गायकों में इंद्रकिशोर का जन्म बेतिया में सन् 1956 ई0 में हुआ। बचपन से ही संगीत और ध्रुपद का प्रशिक्षण इन्हें अपने पिता पण्डित महंथ मिश्र से मिलने लगा था। इन्हें अपने पितामह गायनाचार्य पंडित श्यामा मल्लिक से भी बेतिया घराना की ध्रुपद गायकी के रहस्यों को जानने का सुअवसर प्राप्त हुआ। 1988 ई0 में बिहार संगीत नाटक अकादमी द्वारा बेतिया में आयोजित अखिल भारतीय ध्रुपद समारोह के दौरान अकादमी के सचिव गजेंद्रनारायण सिंह को इन्हीं प्रतिभा का परिचय मिला और इन्हें उक्त समारोह में गायन प्रस्तुत करने का सुयोग प्राप्त हो सका। इस समारोह में शिरकत करने आये प्रख्यात बीनकार उस्ताद जिया मोहिउद्धीन डागर, ध्रुपद गायक उस्ताद जिया फरीदुद्दीन डागर तथा पंडित रामचतुर मल्लिक सरोखे दिग्गजों ने इनके गायन की भूरि-भूरि प्रशंसा की। सन् 1990 में भारत भवन, भोपाल में आयोजित ध्रुपद समारोह में इन्हें आमंत्रित किया गया। श्री अर्जुन सेजवाल जैसे वरिष्ठ पखावजवादक का इनके साथ संगीत के दौरान हाथ बंद हो गया था। सेजवाल जी को कहना पड़ा कि ऐसी बंदिशों के साथ संगत पहले उन्होंने कभी नही किया था। सन् 1994-95 में भोपाल में आयोजित 'मल्हार उत्सव' में मल्हार के एक अत्यंत ही कठिन तथा अप्रचलित प्रकार सिंधुरा-मल्हार गाकर श्रोताओं तथा गुणियों को मंत्रमुग्ध कर डाला। 1995 ई0 में डागर बंधु द्वारा स्थापित ध्रुपद सोसाईटी, दिल्ली के सांगीतिक जलसे में सफलतापूर्वक भाग लिया। इसी वर्ष दिल्ली में एक फ्रेंच रिकार्डिंग कंपनी द्वारा इनकी प्रस्तुतियों का ध्वनिमुद्रण किया गया। 'स्पीक मैके' के बिहार स्टेट कन्वेन्शन में सफल भागीदारी की। वाराणसी में होने वाले ध्रुपद मेले में भी ये शिरकत कर प्रशंसित हो चुके है 1996 में स्पीक मैके द्वारा आयोजित 'विरासत' में सफल भागीदारी उस्ताद जिया मौहिउद्दीन डागर

Scanned with CamScanner

स्मृति समारोह, बम्बई में शिरकत कर चुके है।

आपको पश्चिम चम्पारण जिले के लौरिया के बौद्धस्तूप नामक स्थान पर आयोजित 'चम्पारण महोत्सव' 2001 में 'चम्पारण रत्न' से सम्मानित किया गया। सन् 2002 में आपको मुम्बई में सुर श्रृंगार संवाद कार्यक्रम में 'स्वरमणि' कि उपाधि प्राप्त हुई। और 2006 में सुर श्रृंगार संवाद कार्यक्रम में ही स्वामी हरिदास सम्मान प्राप्त हुआ। सन् 2007-2008 में संगीत नाट्क अकादमी भारत में विशिष्ट कलाकार के रूप में, माननीय मुख्यमंत्री श्री नीतीश कुमार द्वारा 50000/- (पचास हजार) का सम्मान प्राप्त हुआ। सन् 2009 में चेन्नई के माइलापुरम शहर में कृति सांस्कृतिक केन्द्र द्वारा 'संगीत रत्नम्' उपाधि से सम्मानित हुए। सन् 2010 में उत्तर मध्यक्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र इलाहाबाद, भारत सरकार द्वारा आयोजित संगीत समारोह में उत्तर प्रदेश के राज्यपाल द्वारा सम्मानित किया गया।

आपके वर्त्तमान शिष्य एवं शिष्याओं में बेतिया के-कामेश्वर कुमार, परमेश्वर कुमार, माला मिश्रा, जयमाला मिश्रा एवं दीपेन्द्र किशोर मिश्रा। तथा विदेशी शिष्य एवं शिष्याओं में फ्रांस के फैड्रीक और फैड्रीक, करीना बेहार, आलेक्जेंडरो (स्पेन), मरीना रोनाल्डो (स्पेन), मुतु कुमार (चेन्नई), सुमित्रा नंदन (चैन्नई) और सुषमा तिवारी (विशाखा पटनम्) शालिनी वीरभद्र बैंगलोर है।

संदर्भः-

1. सिंह गजेन्द्र नारायण, बिहार के संगीत परम्परा पृ.-30
2. घराना अंक, संगीत जनवरी-फरवरी 1982 पृ.-87
3. वही पृ.-89
4. वंशावली बेतिया घराने के संगीतज्ञ पृ.

Scanned with CamScanner

मानव जीवन और प्रकृति पर संगीत का प्रभाव

उदय शंकर कुमार

जीवन के कण-कण में संगीत व्याप्त है तथा बिना संगीत के जीवन नीरस है। संगीत का प्रभाव न केवल मनुष्य पर बल्कि जीव-जन्तुओं पर भी पड़ता है। हमारा दैनिक अनुभव यह बताता है कि अगर प्रतिदिन संगीत सुना जाय तो हमारी बहुत सी स्मृतियाँ तथा संवेग जागृत हो जाती है। संगीत मनुष्य की आत्मा है। यदि उसे जीवन में आत्मसात कर लिया जाए तो मनुष्य का जीवन सुकून और सफलता से कटेगा। अतः संगीत का मनुष्य जीवन को सरस बनाने में महत्वपूर्ण स्थान रहा है क्योंकि संगीत का उपयोग करके मानव अपने जीवन को और अधिक सार्थक बना सकता है।

संगीत का संबंध देवी-देवताओं से मानना फिर उसका वैज्ञानिक एवं शास्त्रीय पक्ष भी उपलब्ध होना भारतीय संगीत की विशेषता है। संगीत मानव के अंतर्मन से उत्पन्न एक अलौकिक उर्जा है, प्राणों की शक्ति है तथा परमात्मा के मिलन का एक लयात्मक सेतु है। जीवन के कण-कण में संगीत व्याप्त है तथा बिना संगीत के जीवन नीरस है। संगीत की मधुर स्वर लहिरयां न केवल मनुष्य की अपितु समस्त जीवों तथा प्राकृतिक वातावरण को सम्मोहित कर एक नवीन उर्जा का संचार करती है।

मानव के सर्वांगीण विकास हेतु संगीत कला एक सशक्त माध्यम है। मानव के अपरिपक्व मस्तिष्क एवं कोमल हृदय में संगीत के द्वारा किसी भी जटिल से जटिल विषय को सरलता से अंकित किया जा सकता है। संगीत एक ऐसी कला है जो कि प्रत्येक व्यक्ति को विशेषतः अव्यस्कों को अपनी ओर आकर्षित करने की क्षमता रखता है।

इस विषय पर मदन लाल व्यास का मत है कि "संगीत एक शिक्षा पद्धति है, जिससे ज्ञान का अनुभव होता है तथा हमारी चेतना उद्दीप्त होती है। मानव के चहुँमुखी विकास की संभावना में वृद्धि होती है। संगीत, मानव मन स्थित विभिन्न मनोभावों की अभिव्यक्ति है। अतः संगीत भी एक मानव व्यवहार है। संगीत का उद्देश्य न केवल मानव व्यवहार को स्वर तथा ताल के माध्यम से अभिव्यक्ति करना है बल्कि संगीत व्यक्ति को तनाव मुक्त करके संतुलित व्यवहार की ओर प्रेरित करता है।

संगीत चाहे भारतीय हो या पाश्चात्य, इसका मनोवैज्ञानिक प्रभाव अवश्य पड़ता है। संगीत ताप व विद्युत की भाँति एक प्रकार की शक्ति है। प्राचीन समय में भी ध्वनि के प्रभावों के कई प्रयोग हुए हैं जो आज केवल किवदंती के रूप में प्रचलित है। आज भी वैज्ञानिक इस खोज में है, कि तानसेन के गायन से आग लगना या वर्षा होना यह केवल एक कहानी है या इसमें कोई सत्यता है। भारतीय संगीतकारों ने भी संगीत के द्वारा मनोवैज्ञानिक प्रभावों के विषय में खोज की है। पं० ओमकारनाथ ठाकुर जी ने अपने शिष्यों के साथ एक अनूठा प्रयोग किया। उन्होने एक प्रकार के दो पौधे लिए। एक को उन्होने अलग रख दिया और एक पौधे को संगीत सुनाते रहे। दस-पंद्रह दिन बाद उन्होने एक आश्चर्यजनक प्रभाव देखा। जिस पौधे को संगीत सुनाया गया वह दूसरे पौधे कीअपेक्षा, अधिक तेजी से बढ़ रहा था। इसी प्रकार गाय-भैंस को दूहते समय संगीत सुनाया जाये तो वे और अधिक दूध देती है। इसलिए संगीत का प्रभाव न केवल मनुष्य

शोधार्थी, संगीत, बी0आर0ए0, बिहार, विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

Scanned with CamScanner

पर बल्कि जीव-जन्तुओं पर भी पड़ता है।

इस प्रकार मनोवैज्ञानिक आधार पर संगीत द्वारा मनोचिकित्सा भी की जाती है। संगीत द्वारा मनोचिकित्सा पद्धति आधुनिक युग की देन है। भारतीय चिकित्सों ने मानसिक रोगियों को स्वस्थ करने के लिए संगीत का प्रयोग शुरू कर दिया है जिसका अद्‌भुत परिणाम भी देखने को मिला है। हमारा दैनिक अनुभव यह बताता है कि अगर प्रतिदिन संगीत सुना जाय विशेषकर जिस शैली में शब्दों की महत्ता अधिक हो जैसे ठुमरी, गजल, भजन इत्यादि तो हमारी बहुत सी स्मृतियाँ तथा संवेग जागृत हो जाती है।

"संगीत है शांति स्वर की, हर सुर में बसे भगवान।
रागी को सुनाए राग मधुर, रोगी को मिले आराम"।।

संगीत का इतना व्यापक प्रभाव प्राणियों पर है कि जिसका शब्दों में वर्णन करना मुश्किल है। आज के व्यस्तम तेज रफ्तार वाले जीवन में मनुष्य संगीत के द्वारा तनाव से निजात पा सकता है। मानव जीवन में जन्म से लेकर मृत्यु तक संगीत किसी न किसी रूप में हमेशा जुड़ा हुआ है। इस बात से कोई इंकार नहीं कर सकता है। क्योंकि जन्म लेते ही बच्चे का सुर में रोना और घर की महिलाओं द्वारा थाली बजाकर बच्चे के जन्म की खुशी प्रकट करना साथ ही साथ सोहर गाने की प्रथा बच्चों के जन्म के बाद ही होती है। नन्हे शिशु की पहली किलकारियां सुनते ही लोग खुशी से झूम उठते हैं- मंगल गीत, ढ़ोल-मंजीर-शहनाईयां बजना आरंभ हो जाती है। अगर बालक को सुलाने के लिए मां प्यार से लोरी नहीं गाये और न प्यार से थपथपाये तो बालक को नींद नहीं आयेगी- जो बच्चे के लिए अत्यंत आवश्यक होता है। मां के द्वारा सुनाये गए उस लोरी का प्रभाव इतना अधिक होता है कि बच्चा अपना दुख दर्द भूलकर सुखद निद्रा में सो जाता है।

प्यार भरी थपकियां एवं कुछ मीठे स्वरों में बोले गए बोल मानव ही नही अपितु जानवरों को भी प्रभावित करता है। हमलोग अक्सर देखते हैं कि मालिक अपने कुत्ते को घोड़सवार अपने घोड़े को, किसान हल में जुते हुए बैलों को बड़े प्यार से थपकियां देकर एक मीठे स्वर में कुछ बोल बोलता है कि पल भर में उत्साह भर जाता है और ये अनबोलते पशु मालिक के द्वारा समझाए कार्य का संपादन करने लगते हैं।

'संगीत सुकून है, चैन है संगीत ।
संगीत शांति है, मस्ती भी है संगीत"।।

सृष्टि के स्वर्णिम विहान से लेकर प्रलय की काली संध्या तक संगीत का अस्तित्व स्वीकार करना ही पड़ता है। जीवन-ग्रंथ के पृष्ठों को कहीं से भी पलटिए, कोई भी अध्याय ऐसा नहीं मिलेगा जिसे संगीत से शून्य कह दिया जाय। मानव न जन्म लेते ही संगीत सुनता है और मृत्यु होने पर गीत सुनते-सुनते श्मशान की यात्रा करता है। "घंटे-घड़ियाल और राम-नाम सत्य है" की ध्वनियों के साथ उसका स्थूल शरीर भी शून्य में खो जाता है :-

"क्षिति जल, पावक गगन समीरा,
पंच रचित यह अधम शरीरा"।।

इन्हीं पांच तत्वों से मिलकर मानव-शरीर का निर्माण होता है और यही तत्त्व जीवन के आधार माने गए हैं। इनमें जहाँ किसी एक की कमी हुई कि जीवन लीला समाप्त हुई। यही पांच तत्त्व प्रकृति का आधार माने गए है। जड़ और चेतन की सृष्टि का अस्तित्व इन्ही पर है। इधर वैज्ञानिकों ने यह भी सिद्ध कर दिया है कि उक्त पांचों तत्त्वों में संगीत प्रचुर मात्रा में विधमान है, उधर भावुक व्यक्ति प्रकृति के कण-कण में संगीत के निहित होने का दावा करते हैं। इससे यह पता चलता है कि मानव की उत्पत्ति संगीतमय वातावरण एवं संगीतमय तत्वों से परिपूर्ण होती है। स्वर आत्मा का नाद है और आत्मा परमात्मा का स्वरूप। जिस प्रकार आत्मा का संबंध परमात्मा से माना जाता है, उसी प्रकार स्वर का संबंध आत्मा से मानना पड़ेगा। इस युक्ति से संगीत और आत्मा का संबंध भी सुदृढ़ सिद्ध होता है।

संगीत मनुष्य की आत्मा है। यदि उसे जीवन में आत्मसात कर लिया जाए तो मनुष्य का जीवन सुकून और सफलता से कटेगा। क्योंकि सूर्योदय से सूर्यास्त तक, चिड़ियों का चहकना, झरने का बहना, वर्षा ऋतु में काली घटा का छा जाना, मोर का नाचना, जंगल में पशु-पक्षियों का स्वतंत्र विचरण

Scanned with CamScanner

करना इत्यादि ये सभी प्रकृति के विविध आयाम संगीत से कहीं न कहीं जुड़े हैं तथा संगीत इन सभी क्रियाओं पर परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से प्रभाव डालती है। लेकिन इसी प्रकृति से संगीत की उत्पत्ति मानी गई है।

भारतीय संगीत-साहित्य में तानसेन से संबंधित कई चमत्कारिक, किवदांतियां भी है, जिनमें से दीपक राग द्वारा दीपक जला देना, मेघ राग द्वारा वृष्टि कराना और स्वर के प्रभाव से हिरण आदि पषुओं को पास बुलाना मुख्य रूप से प्रचलित है। इसी प्रकार ग्रीक साहित्य में "ऑरफेन्स" का वर्णन मिलता है, जो संगीत के प्रभाव से चराचर जगत को हिला देता था, समुद्र की उत्ताल तरंगों को शांत कर देता था और वायु के वेग को रोक कर पर्वतों को गति दे सकता था।

शेर जैसे हिंसक पशुओं पर भी भारतीय संगीत के आचार्य पं0 ओंकारनाथ ठाकुर ने लखनऊ के चिड़ियाघर में एक प्रयोग किया था, किंतु कोमल गंधार के विशिष्टि प्रयोग द्वारा उसकी आंखों में कुछ ही देर बाद परिवर्त्तन आ गया। कुत्ते की तरह वह अपनी पूंछ हिलाने लगा और उसकी आंखों में वात्सल्य प्रकट होने लगा।

सर जे0 सी0 बोस ने वनस्पति शास्त्र संबंधी विशेष अनुसंधान के द्वारा प्रमाणित कर दिया था कि वनस्पति में भी जीव है। पं0 ओंकारनाथ ठाकुर ने उनकी प्रयोगशाला में जाकर एक बार भैरवी गायी थी। गाने से पूर्व पौधों व पत्तियों की अवस्था को यंत्रों द्वारा देख ली गई थी और गायन के पश्चात् उन पर आई हुई नई चमक का दर्शन भी लोगों ने किया था। मधुर स्वर सुनकर वृक्षों के "प्रोटोप्लाज्म" के कोष में स्थित "क्लोरोप्लास्ट" और गतिमान हो उठता है।

प्राचीन मिस्त्र में संगीत की शक्ति के द्वारा पागलों का उपचार किया जाता था। डॉ0 जे0 पाल ने अपनी पुस्तक 'संगीत चिकित्सा' में विभिन्न रागों द्वारा विभिन्न बीमारियों का उपचार करने पर विस्तृत प्रकाश डाला है। क्लोरोफार्म की अपेक्षा किसी भी गंभीर नाद द्वारा मस्तिष्क की नाड़ियों को सुषुप्त किया जा सकता है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि प्रकृति द्वारा संचालित संगीत को सुनकर मनुष्य ने संगीत के अनेकों रूप की कल्पना, और रचना की जिससे जगत के समस्त जीव-जन्तु में सक्रियता एवं सृजनशीलता उदभूत हुई। भौतिक व अध्यात्मिक चेतना का मार्ग प्रशस्त हुआ। प्रकृति प्रेरणा स्त्रोत बनी। फलस्वरूप मानव अपने जीवन को सौंदर्यपूर्ण बनाने में सक्षम हुआ और सत्यम् शिवम् की अनुभूति हुई।

जेम्स लीग के अनुसार "पहले मनुष्य ने चलना, बोलना आदि क्रियाएं सीखी और तत्पश्चात् उसमें भाव जागृत हुए, फिर उन भावों की अभिव्यक्ति के लिए संगीत की उत्पत्ति हुई।

दामोदर पंडित के अनुसार "संगीत के सात स्वर विभिन्न पशु पक्षियों की देन है।

अतः संगीत का मनुष्य जीवन को सरस बनाने में महत्वपूर्ण स्थान रहा है क्योंकि संगीत का उपयोग करके मानव अपने जीवन को और अधिक सार्थक बना सकता है। यदि दुनिया से संगीत का अस्तित्व ही मिट जाये तो दुनिया बड़ी ही नीरस, रूखी व कर्कश प्रतीत होने लगेगी। क्योंकि साधारण पशु की अपेक्षा मनुष्य को जो आनंदमयी स्थितियां प्राप्त है उनमें संगीत, साहित्य व कला का बहुत महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

संदर्भ सूची :-

1. शर्मा, डॉ0 मृत्युंजय, संगीत मैनुअल, एच0 जी0 पब्लिकेशन, नई दिल्ली - 110062
2. गर्ग, लक्ष्मीनारायण, संगीत विशारद, प्रकाशक - प्रभूलाल गर्ग, संगीत कार्यालय, हाथरस (उ0 प्र0)
3. स्नेही, डॉ0 शिखा, यू0 जी0 सी0, नेट / जे0आर0एफ0

Scanned with CamScanner

राग निरूपण के आवश्यक तत्व

डॉ. चन्देश्वर प्रसाद कुशवाहा

सामान्यतः बोलचाल की भाषा में सौन्दर्य उस बाह्य अनुभूति को कहते हैं जो हमारे ध्यान को अपनी ओर आकर्षित करता है। किसी वस्तु, पदार्थ अथवा व्यवसाय को देखकर हमारे हृदय में अनेक भावों की उत्पत्ति होती है जो अनेक प्रकार की अनुभूतियों में मिश्रित होकर रससिक्त हो जाता है। मानव शरीर के अन्दरभाव एवं अनुभूतियों के संयोग से चेतना जागृत होता है। यह चेतन मनुष्य को विभिन्न प्रकार के रसों की आनन्दानुभूति में सहायक होता है। केवल बाह्य दिखावे में सौन्दर्य होता है ऐसी बात नहीं है मनुष्य के आत्मा एवं विचारो में भी सौन्दर्य होता है जो हमें दूर से दिखाई नहीं देता है। मान लीजिए कि हम किसी व्यक्ति को दूर से देखते हैं जो देखने में सुन्दर नहीं है तो हम न जाने उसके बारे में क्या-क्या सोच लेते हैं लेकिन कुछ समय बाद जब हम उसके नजदीक जाते हैं और उनसे कुछ बातें करते हैं तो उनका विचार हमें बहुत अच्छा लगता है। उनका मधुर वाणी, बात करने का उत्तम तरीका हमारे मन को बहुत भाता है और उनके प्रति हमारा मानसिक सोच भी परिवर्तित हो जाता है और हम कहते हैं कि वह बहुत सुन्दर है। अतः केवल बाहरी आवरण या सजावट ही सौन्दर्य नहीं होता।

सौन्दर्य के बाह्य तत्त्वों के उदाहरण मे हम कह सकते है कि जिस प्रकार कोई मूर्तिकार अपनी मूर्ति को निर्माण करना प्रारंभ करता है तो उस समय हमें कोई सौन्दर्य दिखाई नहीं देती है। लकड़ी, झाड़ी, पत्ता, रस्सी आदि सामग्रियों के अलावा हमें कुछ भी दिखाई नहीं देता है। लेकिन उन सभी सामग्रियों से मिलकर मूर्तिकार अपनी कला के द्वारा मूर्ति का निर्माण करता है और उसे रंग-बिरंगे वस्त्रों से सुसज्जित करके एक विशिष्ट आकार प्रदान करता है तो वह देखने में बहुत सुन्दर लगती है। इसलिए सौन्दर्य शास्त्रों ने इसके बाह्य एवं आन्तरिक दोनों कारकों का उल्लेख किया है। सौन्दर्यतत्त्व की चर्चा से पहले यहाँ सौन्दर्य के तत्त्व एवं परिभाषा से अवगत होना अपेक्षित है जिसके लिए पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किया है।

सौन्दर्य का वर्णन सबसे पहले भारत, चीन तथा बेबीलोन में 2500ई. पूर्व हुई[1]। अंग्रेजी में इस के लिए 'Beauti', 'Grace' और 'Pretty' शब्दों का प्रयोग किया जाता है। संस्कृत में सौन्दर्य, माधुर्य, लावण्य, लालित्य, आदि अनेक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। कुछ संगीत विद्वान् सौन्दर्य को इच्छा व मन की संतुष्टि का प्रमुख कारण मानते हैं। सुन्दरता कोई गुणन हीं केवल एक भाव है जिसे मनुष्य तब प्रकट करता है जब इच्छित वस्तु की प्राप्ति हो जाती है। कुछ लोग सुन्दरता को केवल उपरी दृश्य मानते हैं तो कुछ विद्वान् उसका सम्बन्ध सत्य, शिव से अथवा नैतिकता व अच्छाई से जोड़ते हैं। पाश्चात्य विद्वान् 'कान्ट' ने सौन्दर्य को परिभाषित करते हुए कहा है- 'प्रकृति में कला दिखाई दे तथा कला में प्रकृति दिखाई दे वही सुन्दर है'[2]। प्लेटो के अनुसार- 'Unity within variety is Beauty' क्रोचे के अनुसार- 'जो वस्तु अपने लक्ष्य या कार्य के अनुरूप हो वही सुन्दर है'। कीट्स के अनुसार- 'Beauty is truth and truth is Beauty' सुकरात के अनुसार 'जो अच्छा है वही सुन्दर है'।

पूर्व शोधछात्र, वि0वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा

Scanned with CamScanner

सैन्दर्य के सम्बन्ध में सुकरात का परिभाषा सबसे सटिक एवं सुन्दर माना जाता है।

इस प्रकार अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने सौन्दर्य को अपने-अपने विचारों अनुसार परिभाषित किया है जिसमें से कुछ विद्वानों ने उसका बाह्य रूप, आकार, अथवा कल्पना की संतुष्टि तक सौन्दर्य को सीमित करते हैं तो कुछ विद्वान सौन्दर्य को नैतिकता, आध्यात्म के साथ जोड़कर परिभाषित किया है। पाश्चात्य विद्वानों की तरह अनेक भारतीय विद्वानों ने भी सौन्दर्य को अपने-अपने मतों के अनुसार परिभाषित किया है जो इस प्रकार है-

सुकनीतिसार के अनुसार- 'अनुपात का सामंजस्य सौन्दर्य उत्पन्न करता है'। गणपति चन्द्रगुप्त के अनुसार- 'आकर्षित करने की शक्ति' को सौन्दर्य कहते हैं'। डॉ. नागेन्द्र के अनुसार- 'भाव तत्त्व व कला तत्त्व की सामंजित अनुभूति ही सौन्दर्यानुभूति है'। कवि कालिदास के अनुसार-'क्षणे-क्षणे यन्नवताभुपैति तदेव रूपं रमनीयतायाः'। उन्होंने अपने ग्रंथ 'कुमारसम्भवम्' में कहा है कि-'सच्चा सौन्दर्य स्वयं पापवृत्ति की ओर नहीं जाता है ओर दूसरे को भी उस ओर जाने से रोकता है'। इसमें सात्विकता उत्पन्न करने की शक्ति है[4]।

कुछ रूपवादी विचार धारा के विद्वान् बाह्य सौन्दर्य को महत्व देते हैं परन्तु भारतीय विचारधारा मूल रूप से अध्यात्म से जुड़ा हुआ जिसमें इस पर ज्यादा बल दिया गया है।

वस्तुतः सौन्दर्य एक ऐसा मनोवैज्ञानिक तत्त्व है जिसकी कुछ विशिष्टाएं हैं। एक्य, समानुपात, संतुलन, सुरुचि, निस्संगता, आह्लाद, अध्यायत्मिकता, औदात्य, आदि बाह्य गुणों के साथ उसके कुछ आन्तरिक तत्त्व भी हैं जिसके फलस्वरूप सौन्दर्य बोध की मानसिक प्रक्रिया का उद्घाटन संभव होता है। अतः सौन्दर्य के विभिन्न गुणों का विश्लेषण करते समय इन तत्त्वों का चर्चा करना अतिआवश्यक हो जाता है।

सौन्दर्य में एकता का होना अतिआवश्यक है। सौन्दर्य के विभिन्न तत्त्वों के बीच जब तक सामंजस्य स्थापित नहीं होगा तब तक उसके प्रभाव की स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं हो पाएगी। अनेक खंडों में विभाजित तत्त्वों को जब एक स्वरूप प्रदान किया जाता है तो उसमें सम्पूर्णता का समावेश होता है। यह तत्त्व जीवन और बुद्धि का विशेष गुण है। एक्य से सामंजस्य का आर्विभाव होता है। संगीत में राग सौन्दर्य के मौलिक तत्त्व के लिए स्वर, ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास, वादी-संवादी, औढ़व-षाडव, तालादि का एक्य प्रायः सौन्दर्यात्मक अनुभूति आवश्यक है।

राग के प्राचीन रूप जाति-गायन को माना जाता है जिसका वर्णन आचार्य भरत मुनि ने अपने ग्रंथ 'नाट्यशास्त्र' में किया है। उन्होंने इस ग्रंथ में कुल 18 जातियों का उल्लेख किया है जिसे उन्होंने दो प्रकार में विभक्त किया है- शुद्ध जाति और विकृत जाति। उन्होंने सात शुद्ध और ग्यारह विकृत जातियों का उल्लेख किया है जिसका उन्होंने दस लक्षणों का वर्णन किया है। इन लक्षणों के द्वारा प्राचीन काल में जाति-गायन में रंजकता तथा कर्णप्रियता रूपि सौन्दर्य की उत्पत्ति होती थीं। आधुनिक काल में रागों में सौन्दर्य तत्त्वों की उत्पत्ति में इन सभी तत्त्वों का होना आवश्यक माना जाता है। प्रत्येक लक्षण व तत्त्वों का विशेष प्रायोगिक महत्व है, इन लक्षणों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकारहै-

अंश स्वर-अंश स्वर राग जातियों का वह स्वर है जिस स्वर पर जाति का स्वरूप निर्भर करता है। इस स्वर को ग्रह स्वर भी कहा जाता है। जो स्वर जाति की मंद्र और तार गति को निर्धारित करता है उसे अंश स्वर कहते हैं[5]। जिस प्रकार आधुनिक राग पद्धति में किसी भी राग का गायन करते समय वादी स्वर को आधार मानकर राग के स्वरों का विस्तार किया जाता है तथा जिस स्वर पर राग का स्वरूप, गायन-समय, और रंजकता निर्भर करती है उसे वादी स्वर कहा जाता है जिसे राग का राजा का संज्ञा दिया गया है।

ग्रह स्वर-ग्रह स्वर से अभिप्राय उस स्वर से है जिस स्वर से जाति-गायन प्रारंभ किया जाता है। अभिनव गुप्त के अनुसार सभी जातियों का संबंध ग्रहस्वर से है। अंश स्वर भी ग्रह स्वर हो सकता है[6]। चुकि जाति के प्रमुख स्वर को अंश स्वर कहा जाता है। इस प्रकार अंश स्वर ही सभी जातियों का ग्रह स्वर माना गया है।

न्यास :- जिस स्वर पर राग का एक अंश की समाप्ति होती है उसे न्यास स्वर कहा जाता है।

Scanned with CamScanner

अभिनव गुप्त के मतानुसार न्यास स्वर का प्रयोग जाति रूपी शरीर की समाप्ति के लिए जिस स्वर का प्रयोग किया जाता है वह न्यास स्वर कहलाता है[7]।

अपन्यास :- जिस स्वर पर जाति के मध्य भाग की समाप्ति होती है उसे अपन्यास स्वर कहते हैं। एक जाति में एक से अधिकन्यास-अपन्यास स्वर हो सकते हैं जिसकी संख्या 56 बताई गई हैं।

अल्पत्व-बहुत्व :- साधारण शब्दों में जिन स्वरों का प्रयोग राग में कम किया जाता है उसे अल्पत्व और जिस स्वरों का प्रयोग अधिक किया जाता है उसे बहुत्व कहा जाता है।

औड़व-षाडव :- जिन जातियों में पांच स्वरों का प्रयोग किया जाता है उसे औड़व और जिसमें छः स्वरों का प्रयोग किया जाता है उसे षाडव कहा जाता है।

भरतकालीन जातियों के इन लक्षणों में से कुछ लक्षणों का प्रयोग आधुनिक राग-गायन पद्धति में भी किया जाता है। इन तत्त्वों के अतिरिक्त राग के कई अन्य बाह्य मौलिक तत्त्व भी है जिसका प्रयोग से राग की सुन्दरता बढ़ती है। राग-गायन की सुन्दरता गायक के विचार, व्यवहार, एवं स्वर लगाने के तरीका पर भी निर्भर करता है। इसके साथ ही मंच-सजावट, साउण्ड व्यवस्था आदि भी गायन प्रस्तुति के आधुनिक मौलिक तत्त्व हो सकते हैं।

सन्दर्भ सूची :-

1. जैन, श्रीमती विजय लक्ष्मी, संगीत दर्शन, पृष्ठ संख्या - 31
2. स्नेही, डॉ. शिखा, संगीत, पृष्ठ संख्या- 55
3. श्रीवास्तव, मीरा, कृष्ण काव्य में सौन्दर्य बोध एवं रसानुभूति, पृष्ट संख्या-5
4. टण्डन, डॉ, पूरनचन्द्र, सौन्दर्य-विमर्श, पृष्ट संख्या-32
5. नाट्यशास्त्र, अध्याय-28,. लोक- 68
6. बृहस्पति, श्री कैलास चन्द्रदेव, भरत का संगीत सिद्धांत, पृष्ट संख्या -48
7. नाट्य शास्त्र अंगमध्यइति, आवन्तर सभा प्राविल्यपर्थ, पृष्ट संख्या- 47

Scanned with CamScanner

तबले को फर्रूखाबाद घराना और बाज

संजीत कुमार

नाद ब्रह्म से संगीत की उत्पति होने के कारण सम्पूर्ण सृष्टि ही अदृश्य रूप से संगीतमय है तथा सम्पूर्ण वायुमंडल संगीत की स्वर लहरियों से तरंगित है। संगीत की अविरल धारा प्रकृति तथा चराचर जगत् में सदियों से वर्त्तमान तक समाहित और प्रवाहित है। सभ्यता के सभी चरणों में संगीत की स्वर लहरीं किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है, जिससे इसकी प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। संगीत कला के सूर्य का उदय इस वसुन्धरा पर सृष्टि के प्रारम्भ से ही हो चुका था। अतः संगीत का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना मानव मनोभावों का है। मानव प्रयत्नों द्वारा ही संगीत कला विभिन्न युगों में उत्तरोत्तर विकसित होती गई है। प्राचीन काल से ही संगीत हृदयगत भावों को व्यक्त करने का एक सशक्त माध्यम रहा है भिन्न-भिन्न भावाभिव्यक्ति करने वाली विभिन्न ध्वनियाँ ही संगीत उत्पति के मूल में रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन विभिन्न ध्वनियों से ही विभिन्न वाद्यों-यंत्रों का जन्म हुआ होगा।

आदिम सभ्यता के समय मानव के द्वारा प्रारम्भ में प्रयुक्त वाद्य भी अविकसित अवस्था में था। वाद्य की स्वतंत्र पहचान के लिए वादको ने लगभग डेढ़ शताब्दी पूर्व बड़ा परिश्रम किया, फलतः स्वतंत्र वाद्य शैली का जन्म हुआ, इसके पश्चात् अन्य सभी वाद्यों की अपनी स्वतंत्र पहचान बनती चली गई।

भारतीय संगीत में प्रत्येक स्थल पर प्रायः कण्ठ को ही प्रधानता दी जाती है तथापि संगीत के शास्त्रीय ग्रंथों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट होता है कि सांगितिक व्यवस्था और उसकी सुरक्षा तथा उसके विकास में वाद्यों का अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

बाज

वादन प्रणाली एवं वादन शैली का बाज कहते हैं। प्रचलित बाज के मुख्यरूप से दो भाग है। (1) पश्चिम बाज - इसके अन्तर्गत दिल्ली तथा अजराड़ा घराने की वादन शैली आती है और यह बंद बाज कहलाता है। इस बाज में दो अंगुलियों तथा चाँटी अर्थात् किनार का अधिक प्रयोग होता है। अतः इसे किनार का बाज भी कहते हैं।

(2) पूरब बाज- इसके अंतर्गत लखनऊ, फर्रूखाबाद, और बनारस घरानों की वादन शैली आती है। यह बाज पखावज की वादन शैली के अधिक निकट है। इस बाज में ध्वनि गूँज युक्त एवं जोरदार होती है। इसमें अंगुलियों के साथ-साथ पूरे पंजे का प्रयोग, थाप का खुला प्रयोग तथा 'धिरधिर' बोल का विशेष प्रचलन है। यह देश के पूर्वी भाग में होने के कारण पूरब बाज कहलाता है। पंजाब घराने की वादन शैली इन सभी से अलग है, और इस बाज पर मृदंग का सर्वाधिक प्रभाव है। इस वादन शैली में मृदंग के बोलो को बंद करके बजाते हैं। अर्थात् पूरब बाज में पखावज के बोलों को खुला बजाने से खुला बाज कहलाएगा। इसलिए बाजों के मुख्य दो ही प्रकार बनते हैं।

(1) बंद बाज (2) खुला बाज।

तबले के विभिन्न घरानों की मान्यता का एक मात्र आधार उनकी मिश्र वादन शैली है। इन वादन शैलियों की भिन्नता को मुख्यतः दो प्रकार से समझा जा सकता है। पहला तबले के बाज की रचनाओं

शोध छात्र, वि० वि० संगीत एवं नाट्य विभागल० ना० मि० वि०वि०, दरभंगा

Scanned with CamScanner

द्वारा और दुसरा तबले के बोलों को भिकालने की विधि (निकास) द्वारा। वर्णमाला के आधार पर जिस प्रकार भिन्न-भिन्न विषय लिखे जाते हैं। उसी प्रकार तबले में एक ही बोल को विभिन्न घरानों में विभिन्न अंगुलियों के प्रयोग द्वारा तथा तबले की पूड़ी में चाँटी लव एवं स्याही पर विभिन्न अंगुलियों के आघात द्वारा अन्तर के साथ बजाए जाते हैं।

घराना

कोई कला विद्या जब विकसित एवं परिष्कृत होकर सुसंस्कृत और समृद्ध हो जाती है, जिसकी कला ममंज्ञ जनसमाज में विशेष मान्यता व प्रतिष्ठा हो जाती है तब उसकी एक परम्परा चल पड़ती है। कला विद्याओं की इस परम्परा में जहाँ कलाकारों का इतिहास और उनकी कलात्मक उपलब्धियों का समावेश रहता है वहीं पीढ़ी दर कला की प्रायोगिक उन्नति के आधार पर भिन्न-भिन्न शैलियों की सृष्टि और उनकी प्रगति भी समाविष्ट रहती हैं। इस दृष्टि से भारतीय संगीत में गायन, वादन तथा नृत्य प्रस्फुटित होती रही हैं और कालान्तर में यही परम्पराएँ संगीत के विभिन्न घरानों के रूप में विकसित हुई।

घराना शब्द की व्युत्पत्ति 'घर' शब्द से हुई। 'घराना' शब्द भारतीय संगीत में पेरोवर गायक, वादक और नर्तकों की वंश परम्परा का परिचायक है। यह समुदाय वंश परम्परागत व्यवसाय में यक्ष तथा कला की वंशानुगत शिक्षा में पारंगत होने के कारण 'घराना' और 'शैली' के विकास में सहायक रहा है। कालान्तर में 'घराना' शब्द संगीतज्ञों की कलाभिव्यक्ति की विशिष्ट शैली के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। मध्यकालीन युग से विभिन्न स्थानों पर संगीत समुदाय के लोग अपने जीविको पार्जन के लिए विभिन्न राजाश्रयों में बस गए और वहाँ के विभिन्न कलाकारों की कला परिकल्पना, लोकरुचि और स्थानीय प्रभाव द्वारा उनकी कला प्रस्तुतीकरण की शैली, स्थानीय नाम से प्रसिद्ध हुई।

तबले पर बजने वाले अक्षर वर्ण अथवा पटाक्षर कहलाते है, जो सभी घरानों एवं बाजों में एक ही समान होते हैं। अर्थात् सभी घरानों में धा और धिं को क्रमशः धा और धिं ही कहा जाता है। परन्तु विभिन्न घरानों में उन वर्णों को निकालने (निकास) की विधि में थोड़ा-थोड़ा अन्तर होता है। प्रत्येक घराने में विभिन्न प्रकार की विशेष रचनाएँ भी हुई और घराने के सूजधार विद्वानों के बन्दिशों को निकालने की विधि में परिवर्तन किए। जिसके फलस्वरूप विभिन्न घराने अस्तित्व में आए तथा उनकी अलग पहचान बनी। तबले पर बजने वाली रचनाएँ पेशकारा, कायदा, टुकड़ा, परन, गत आदि है, परन्तु इन सभी का विभिन्न घरानों में अलग-अलग महत्व है। जैसे दिल्ली घराने में कायदे और रेलों को अधिक महत्व दिया जाता है तो फर्रुखबाद में रौ, गात और चाला या चलन को और बनारस घराने में छन्द, परन, गत, फर्द, बाँट, और लग्गी, लड़ी को अधिक महत्व दिया जाता है। अतः इस प्रकार प्रतयेक घराने के अपने नियम हैं और उन्हीं की सीमा में बद्ध होने से भारतीय संगीतज्ञ में विविध घराने अस्तित्व में आए, और अपनी निजी विशेषताओं द्वारा एक दूसरे से अलग-अलग पहचान निश्चित किए।

महान हस्तियों के नाम, जिनके द्वारा तबला के घरानों का निर्माण हुआ-

दिल्ली घराना- उस्ताद सिद्धार खाँ या सुधार खाँ

अजराड़ा घराना- उस्ताद कल्लु खाँ एवं उस्ताद मीरू खाँ

फर्रुखाबाद घराना- उस्ताद हाजी विलायत अली खाँ

लखनऊ घराना- उस्ताद मोदू खाँ एवं उस्ताद वख्शु खाँ

बनारस घराना- पण्डित रामसहाय जी

पंजाब घराना- लाला भवानी दास

फर्रुखाबाद घराना:-

उस्ताद वख्शू खाँ के दामाद एवं शिष्य उस्ताद हाजी विलायत अली खाँ फर्रुखाबाद घराने के प्रर्वतक हैं। उन्होंने लखनऊ की वादन शैली में मौलिक परिवर्त्तन करके एवं विभिन्न प्रकार की अनेक रचनाएँ की जिससे फर्रुखाबाबाद को एक पृथक घराने की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। उस्ताद हाजी विलायत अली खाँ के शिष्यों एवं प्रशिष्यों की परम्परा में हुजूरुद्दीन खाँ, पं० जियालाल जी, ऊ० मुनीर खाँ, अता हुसेन खाँ,

Scanned with CamScanner

मिअन खाँ, मोधू खाँ, रघुनन्दन, पं0 भीष्म देव-वेदी, उ0 चुड़िया वाले इमाम बख्श, मुबारक अली खाँ, उ0 करम, इत्तल खाँ, बेचाराम चटोपाध्याय, उ0 जहाँगीर खाँ, उ0 अमीर हुसेन खाँ, उ0 अहमद जान थिरकवा, उ0 नन्हे खाँ, उ0 नजरअली खाँ, मुरारी लाल, श्यामलाल पाण्डेय, गुरूदयाल मुनीम, वासुदेव प्रसाद, रहीम बख्श, बाबासाहेब मासेलकर, निजामुद्दीन खाँ, हाफिज खाँ, निखिल घोष, पंढ़रीनाथ नागेश्वर, शरद- खरगोनकर, तारानाथ राव, रामप्रवेश सिंह, एवं उ0 नन्हे खाँ के पुत्र उ0 मसीनउल्ला खाँ उर्फ मसीत्र खाँ, पौत्र उ0 करामतउल्ला खाँ, प्रपोत्र साबिर खाँ आदि हुए।

फर्रूखाबाद घराने की विशेषता:-

यह बाज पूरब घराने की ही शाखा है।

यहाँ का बाज नृत्य से प्रभावित नहीं है।

दिल्ली के समान किनार या बनारस एवं पंजाब घराने की तरह जोरदारी इस घराने में नहीं है।

यह रेलों को एक नया रूप दिया गया जिसे 'रौ' अथवा 'रविश' कहा गया जो बहुत प्रचलित हैं

इस घराने में विशेष रूप से गत; एवं गतों को लयकारी के विभिन्न दर्जों में बजाने की प्रथा है।

यहाँ का चाला या चलन विशेष प्रसिद्ध है।

स्वतंत्र वादन के प्रस्तुतीकरण हेतु यह सफल बाज है।

इस वादन शैली में घिड़ाना, कड़ाँ, धिरधिर, किटतक तकिट धा, धिरधिर किटतक धेतु, तक, धिरा नग आदि बोल समूहों का अधिक प्रयोग होता है।

इस घराने का तबला मधुर, संयत तथा संतुलित है।

इस घराने के चलन का एक उदाहरण प्रस्तुत है-

चलन(तीनताल)

धातीधाड धातिगेन धिंनागेना धातिधाड ।

x

कड़धेडना धेनतेटे धातिगेन तिंनाकेन ।

2

ति-किटतकताऽ ति-किटतक धातिधागे ताडतिरकिटतक।

0

तिरकिटतकताऽ तिरकिट, धागे धातिधागे तिंनाकिना ।

3

तातिताऽ तातिकेन तिंनाकेना तातिताऽ ।

x

कड़धेडना धेनतेटे धातिगेन तिंनाकेन ।

2

तिंडकिटतक तिंडकिटतक ताडतिरकिटतक ताडतिरकिटतक।

0

तिरकिटतकताऽ तिरकिट,धागे धातिधागे धिंनागेना।

3

निष्कर्ष :- वर्त्तमान समय में नियम का पालन गिने-चुने कलाकार ही कर रहे है। संगीत करने वालों का विकास अधिक हुआ है परन्तु अतिशीघ्र प्रसिद्धि तथा अर्थ प्राप्त करने की लालसा से 'घर और घराने दोनों की परम्परा को छोड़ कर आगे भाग रहें हैं जो चिन्ता का विषय बता जा रहा है।

संदर्भ ग्रंथ :-

(1) मिश्र, पंडित छोटेलाल, ताल-प्रबन्ध, पृष्ठ संख्या-11
(2) कुमार, डॉ0 अजय, विकास वादन शैली, पृष्ठ संख्या-9

Scanned with CamScanner

पंडित दामोदर मिश्र की सांगीतिक यात्रा

राजन कुमार मिश्र

वैदिक शास्त्रीय संगीत के प्रख्यांत संगीतज्ञ पंडित दामोदर मिश्र ''प्रीतम'' ध्रुवपद गायन के आधार स्तम्भ में से एक थे, जिनका नाम कला प्रेमियों के बीच 'दमरी मिश्र' के नाम से भी जाना जाता था। इनके पिता का नाम पंडित देवी सहाय मिश्र जो ग्राम टिकारी, गया जिला के रहने वाले थे, जो एक कुशल शास्त्रीय गायक थे तथा जिन्हें टिकारी महाराजा गोपाल शरण सिंह का राजाश्रय प्राप्त था।

पंडित दामोदर मिश्र का जन्म 28 सितंबर 1903 ई0 को मंगलवार के दिन हुआ था, जिन्हें संगीत और साहित्य का संस्कार पैतृक गुण के रूप में विरासत में मिला था। इन्हें सांगीतिक शिक्षा अपने पिता जी से ही प्राप्त हुई।

श्री मिश्र की बाल्य काल की विद्यालयीन शिक्षा केवल एक दिन की रही, परन्तु अपनी विलक्षण प्रतिभा के कारण साहित्य और संगीत की पराकाष्ठा को किशोरावस्था में ही प्राप्त कर लिया। पंडित जी अपने विलक्षण गायन शैली का सुगंध बिखेरते हुए मगध से मिथिला की हृदयस्थली दरभंगा क्षेत्र में पहुँचे जहाँ तत्तकालीन राँटी (मधुबनी) बाबू साहब श्री चद्रधारी सिंह जो एक विशिष्ट कला पारखी थे, ने इनका गायन सुना तथा उनकी गायन-शैली से प्रभावित हो कर पंडित जी को अपने दरबार में श्रेष्ठ कलाकार के रूप में पदस्थापित किया।

पद्मश्री पंडित रामचतुर मल्लिक जो दरभंगा घराना (अमता) के श्रेष्ठ ध्रुपद गायक थे, जो संबंध में इनके बड़े फुफेरे भाई लगते थे। अतः पंडित दामोदर मिश्र भी ध्रुपद गायन में इसी धराने के कलाकार के रूप में जाने जाते थे।

पंडित मिश्र का शुभ-विवाह 1935 ई0 में मिथिला की पावन भूमि मधुबनी जिलान्तर्गत ग्राम जगतपुर, बरैयाटोल के निवासी श्रीकान्त मिश्र की सुपुत्री कुमारी गायत्री के साथ सम्पन्न हुआ। इनके पाँच सुपुत्री एवं दो सुपुत्र हुए।

इन्होंने अपने सभी सन्तानों को स्वयं संगीत की शिक्षा प्रदान की, जिसमें श्री राधेश्याम मिश्र एवं श्री राधामोहन मिश्र अग्रणी हैं। तथा श्री शिवलाल, श्री सियानिकुन्त शरण एवं श्री राम मिलन जैसे नेपाल के कलाकारों को भी संगीत की शिक्षा दी तथा शिष्यत्व प्रदान किया। घराना की परम्परा का परिपालन करते हुए श्री राधामोहन मिश्र अपनी तीन सुपुत्रों श्री राधागोविन्द मिश्र, राजन कुमार मिश्र, श्याम सुन्दर मिश्र एवं अनेक शिष्यों को तत्काल संगीत की शिक्षा प्रदान कर रहे हैं।

पंडित जी ने विभिन्न कार्यक्रमों एवं संगीत सम्मेलनों में सदा अपनी उत्कृष्ट कला-क्षमता का परिचय दिया। ध्रुपद गायन में तालों की विभिन्न लयकारी, बाँट, तिहाई एवं तरह-तरह के बोल बनाना इनके स्वाभाविक गुण थें। वैसे तो पंडित जी अपनी जानकारी के सभी रागों को बहुत ही सहज ढ़ंग से प्रस्तुत करते थे, किन्तु राग मालकौंस, देशी, तोड़ी, मल्लार, सारंग, भैरव, भैरवी मारूविहाग, पूर्वी, पूरिया, केदार आदि उनके प्रिय राग थे। पंडित जी ध्रुपद, धमार, ख्याल, टप्पा, ठुमरी, दादरा, भजन, गज़ल एवं लोकगीतों को समान रूप से प्रस्तुत किया करते थे। इनकी इतनी सुरीली और लचीली आवाज़ थी कि इनके कार्यक्रम प्रस्तुत करने के बाद पुनः दूसरे कलाकार का कार्यक्रम बहुत कम ही प्रभाव रख

पूर्व स्नातकोत्तर छात्र, जि0वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0 ना0 मि0 वि0 वि0, दरभंगा

Scanned with CamScanner

पाता था। पंडित जी गोबरहार बाणी ध्रुपद गायन शैली का गावन करते थे।

सांगीतिक कला-क्षमता के अतिरिक्त पंडित जी को साहित्य की इतनी प्रगाढ़ जानकारी थी, कि राष्ट्र-कवि रामधारी सिंह "दिनकर" ने भी इनकी साहित्य की सराहना की और "ताल कर काल लय" "दिनकर" बखानिए" जैसा विशिष्ट वाक्य प्रमाण स्वरूप कहा और कविता बनाकर इनकी सेवा में प्रदान की, जो निम्नलिखित हैं:-

कविता

आदि गौड़ भुसुर श्री देवी सहाय सुत भुपति टिकारी ग्राम प्रथम शुभ मानिये। ललित स्वर अच्छर साहित्य गुण- गण विमल शैली पुनीत पद सरा रस खानिये। भकित राधापति की हिय में प्रबल प्रेम वैष्णव रहनि-सहनि ऊत्तम प्रभानिये। सु कवि-वर गायक श्री दमरी मिश्र जगतपुर, ताल कर काल लय "दिनकर" बखानिये।

पंडित जी ने ब्रजभाषा, हिन्दी एवं नागपुरी आदि भाषाओं में छन्दोबद्ध रचना कर भक्ति रस एवं विभिन्न भाषाओं की जानकारी का पूर्ण परिचय दिया है। इन्होंने ऊप्पय, सवैये, कविताएँ, लावणी, दोहे, गज़ल, भजन आदि विशिष्ट रचनाएँ भी की हैं, जो रस एवं भावों से ओतप्रोत है। साथ ही विभिन्न रागों एवं तालों की बंदिशों की भी प्रचुर मात्रा में रचनाएँ की है जो इनके उत्कृष्ट साहित्यिक एवं सांगीतिक परिज्ञान का परिचायक है। उन रचनाओं में से कुछ विशिष्ट रचनाएँ निम्नलिखित है:-

ध्रुपद (राग मालकौस)

चारताल

स्थाई

शुभ लगन विचार त्याह भयो लाला दुल्लह-दुलहिया चिरंजिवी रहौ जों लौं ध्रुव-धरणी-धार सुरसरि चन्द्रभान।

अंतरा

वेद पढ़त पंडित कवि सुया करत नृत्य होत आनन्द सुर नर-नरेन्द्र जनक सभा मध्य बैठे देत नीको गज तुरंग सनमान।

भजन (राग भैरवी)

स्थाई

गुरुरिया नीको राम को लागे।
लखि दृगमाल दोशाला भखमल विमल भक्ति नहीं जागे।।

अंतरा

1) रूखो सूखो चना-चबिना जो देवै हरी आगे।
अर्पण करि पावै प्रसाद नित, घटे न पद अनुरागे।।
2) कर-करवा गर कंठी माला, मुख हरिनाम न त्यागे।
हिमजुमिरन "प्रीतम" की कीजै, सदा रहे लव लागे।।

कविता

कुंजन में क्यारिन में कूलन में कछारण में, कानन में कोकिलान कुहुकत कुहन्त हैं। देशन विदेशन में दरन दिवारन में, द्विपन दिशानन में दरात दिगन्त हैं। पवन में पुष्पण में परागन में पवनन में "प्रीतम" तिय आनन में परसत परवन्त है। बनन में बिथिन में बेलिन नवेलिन में, बासन में बसन में बरसत बसन्त है।

पंडित जी आध्यात्मिक-मण्डली के बीच भी उतने ही आदरणीय बने रहते, जितने संगीतकारों एवं साहित्यकारों के बीच। मधुबनी हरिनाम सम्मेलन की प्रारम्भिक अवस्था से ही पंडित जी मंगला-चरण एवं भजन और सन्त सेवा करते रहे तथा भगवान श्री राधाकृष्ण की अनन्य भक्ति एवं अपने सात्विक विचारधारा के कारण ही पंडित जी जीवन के कठिन से कठिन कार्य को सदा सरलतम ढ़ंग से सुलझाते रहे। अपनी विशिष्ट साहित्यिक एवं आध्यात्मिक भावनाओं को उन्होंने आजीवन संजोया और जीवन की अन्तिम घड़ी को अन्तिम आलेख के रूप में दर्शाया भी जैसे:-

लुप्त भए आज ध्रुवपद के प्रवीण गायक,
बाँट अरू तिया के प्रकार सार लुप्त भए।
लुप्त भए ताल वादक पण्डित के महाकाल,
लय की गम्भीर गति गुणियन विलुप्त भए।।
लुप्त भए काव्य अलंकार हुँ के सुविसुजान,
श्री राधाकृष्ण के अनन्य प्रेमी सुप्त भए।

Scanned with CamScanner

लुप्त भए वाग्गेयकार पंडित श्री दमरी मिश्र,
प्रिया "प्रीतम" शरण में अविरल पदमुक्त भए।

अतः पंडित दामोदर मिश्र भारतीय संस्कृति के मूर्त्तमान स्वरूप थे, यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

ऐसे महान व्यक्तित्व का निधन 22 सितम्बर 1995 को हो गया। आज हमारे बीच ऐसे मूर्द्धन्य न रहे, किन्तु ऐसे पूर्ण व्यक्ति का व्यक्तित्व एवं कृतित्व हमारे पीढ़ियों को आगे बढ़ाने मे सदा सहयोग प्रदान करता रहेगा, तथा पंडित जी अपने अवदानो के कारण सदा सूरज और चाँद की तरह गगन मंडल में चमकते रहेंगे। साथ ही कलाकारों की हृदयस्थली में बैठकर सदा संजीवित रहेंगे तथा उन्हें प्रेरित करते रहेंगे।

पंडित जी पुनः नवीन प्रकृति के प्राणधार बने यही जनभानस की अन्तिम अभिलाषा है।

Scanned with CamScanner

संगीत आधारित दूरसंचार सेवा का अर्थशास्त्र

डॉ0 विजय कुमार झा

वैश्वीकरण के संग नव बाजारवाद के दौर में आर्थिक लाभ प्राप्ति हेतु नये-नये रास्तों का प्रयोग कर उपभोक्ताओं को सुविधाएँ उपलब्ध की जाती हैं। इस बाजारवाद की अंधी दौड़ में दूरसंचार सेवा प्रदाता कंपनियाँ भी नये नये स्त्रोत से आर्थिक आय के रास्ते निकालने की प्रक्रिया में हैं। आय प्राप्ति के नये साधन की खोज में संगीत की सुमधुरता को दूरसंचार सेवा प्रदाताओं द्वारा अंगीकार कर आय प्राप्ति का एक नया व अलग विस्तृत संसाधन युक्त बाजार बना दिया गया है। जिसमें धुन व संगीत आधारित रिंगटोन, रिंगबैकटोन, कॉलरटोन एवं इन टोनों पर आधारित विज्ञापनों की व्यवस्था प्रमुख रुप से शामिल है, जिसे सामान्यतः मूल्य-वर्धित सेवा (Value Added Services or VAS) के रूप में जाना जाता है।

रिंगटोन- इस व्यवस्था के रिंगटोन (श्रोता द्वारा सुने जाने योग्य संगीतमय धुन/ध्वनि, रिंग और रिंगबैक टोन/धुन) टेलीकम्युनिकेशन के क्षेत्र में एक संकेत ध्वनि है जो टेलिफोन कॉल के प्रथम प्रवर्तक द्वारा सुनी जाती हैं, जबकि प्राप्त कर्ता व गंतव्य सिरे पर संकेत प्राप्त करने वाले व्यक्ति अथवा पक्ष को जवाब देने हेतु सूचित व सचेत करता है। श्रव्य ध्वनि संकेत अथवा रिंग टोन सामान्यतः पुनरावृत्त अथवा पुनः दोहराया जाने वाली संगीत ध्वनि व स्वर है।

रिंग टोन को ही सामान्यतः रिंगबैक टोन भी कहा जाता है। किंतु कॉलरटोन कॉल आरम्भ करने वाले कॉल प्राप्त कर्ता द्वारा स्वीकार करने के पूर्व के मध्य समय अंतराल में मधुर संगीत धुन सुना कर व्यस्त रखता है।

श्रव्य संगीतमय ध्वनि व रिंग सामान्यतः कॉल करने वाले के निकटतम दूरसंचार सेवा प्रदाता के स्विचिंग सिस्टम में उत्पन्न होती है। विशेष रूप से यह सिग्नलिंग सिस्टम, कार्यान्वयन और मोबाइल एन्हांस्ड लॉजिक Customized Application of Mobile Enhanced Logic (CAMEL) सिग्नलिंग सिस्टम के साथ अनुकूल रहकर नियंत्रित रूप में कार्य करता है। यह दूर अवस्थित दूरसंचार सेवा प्रदाता के स्विच में भी क्रियाशील हो सकता है।

वर्तमान नव बाजारवाद में आर्थिक लाभ प्राप्ति हेतु दूरसंचार कंपनियों ने रिंगबैक टोन नामक एक लोकप्रिय व मनोरंजक सेवा की पेशकश की है। कालातीत मानक रिंगिंग टोन व ध्वनि संकेत के रूप में प्रचलित ट्रिन-ट्रिन के बदले दूरसंचार उपभोक्ता की पसंद की धुन बजती हैं जो समय व तकनीक के विकास के साथ संगीतमय ध्वनि के पश्चात विकास क्रम में व्यक्तिगत इच्छानुसार बदली जानेवाली मधुर संगीत भी सुनाई देने लगी।

रिंगबैकटोन विज्ञापन- रिंगबैक टोन युक्त विज्ञापन (Advertisement with Ring Back Tone or AdRBT) को 2008 में व्यापारिक रूप से बाजार में फोन के कई परिष्कृत मॉडलों के फोन का उपयोग करके पेश किया गया था। अमेरिका में, रिंग प्लस कंपनी ने सर्व प्रथम रिंगबैक टोन विज्ञापन को इंटरैक्टिव प्लेटफॉर्म पर पेश किया। तुर्की में, 4play डिजिटल बेल वायरलेस के साथ मिल कर रिंगबैक टोन विज्ञापन 'टोनलाकजान' और सिनसिनाटी बेल वायरलेस के साथ मिल कर संयुक्त राज्य अमेरिका

व्याख्याता, वाणिज्य संकाय, ए0एम0एम0 कॉलेज, बहेड़ा, दरभंगा

Scanned with CamScanner

में रिंगबैक टोन विज्ञापन लॉन्च किया। Xipto AdRBT, OnMobile ने रिंगबैक टोन विज्ञापन को वोडाफोन के साथ भारत में एक एड-सपोर्टेड म्यूजिक के रूप में रिंगबैक टोन (RBT) प्रोग्राम को व्यापारिक रूप से सर्वप्रथम लॉन्च किया। 4Play Digital कार्यशाला ने वाणिज्यिक रूप से सेवा प्रदान करने के पहले कुछ समय अपनी सेवा में विशिष्टता को प्रदर्शित कर नये उपभोक्ताओं को अपने साथ जोड़ा, और वर्ष 2009 में बार्सिलोना में मोबाइल वर्ल्ड कांग्रेस में एक नवाचार (A New Innovation) पुरस्कार प्राप्त किया। रिंगबैक टोन विज्ञापन सामान्यतः कॉल करने पर या कॉल करने वाले उपभोक्ता को संगीतमय धुन व टोल (RBT) के सेवा, मुफ्त बात करने का समय, फोन पर बात करने हेतु नकद प्रोत्साहन राशि,, या अन्य रिवाइस प्रदान करता है। इस सेवा के बदले में उपभोक्ता संगीतपूर्ण रिंगबैक धुन के साथ एकीकृत विज्ञापन संदेश स्वीकार करता है अथवा उपभोक्ता अपनी व्यक्तिगत पसंद का विज्ञापन आधारित रिंगबैक धुन के रूप में संगीत के अतिरिक्त दूरसंचार सेवा प्रदाता कंपनी द्वारा उपलब्ध विज्ञापनों का चयन करता है।

मई 2011 में, दूरसंचार सेवा प्रदाता एडमर्टेल ने ऑरेंज कंपनी के साथ मिलकर ऑस्ट्रिया में पहली बार प्रायोजित विज्ञापन आधारित कॉलिंग सेवा शुरू की, जिसमें उपभोक्ता को संगीत व विज्ञापन सुनाया जाना आरम्भ किया गया।

दूरसंचार सेवा के क्षेत्र में उपभोक्ताओं की असीमित संख्या को देखते हुए आर्थिक लाभ उठाने के लिये संगीत कंपनियों और मोबाइल टेलीफोन सेवा प्रदाताओं के लिए, रिंगटोन आधारित मनोरंजनयुक्त विज्ञापन द्वारा आर्थिक लाभ आरंभ में एक ट्रिकल के रूप में शुरू हुआ, किंतु लोकप्रियता बढ़ने के साथ यह लाभ प्राप्त करने नई सेवा बन गई है। वर्तमान अनुमान के अनुसार दूरसंचार इंडस्ट्री में 20-25% भारतीय उपभोक्ता इस सेवा का उपयोग कर रहे हैं। भारतीय 56 मिलियन मोबाइल उपभोक्ताओं के पास कॉलर रिंग-बैक टोन और रिंगटोन सेवा उपलब्ध करने के लिए 20-25% की मासिक आय वृद्धि दर के साथ दूरसंचार कंपनियाँ कार्य कर रही है। दूरसंचार के क्षेत्र में संगीत अधारित यह सहायक सेवा वर्तमान में सर्वाधिक लोकप्रिय अनुप्रयोगों में से एक बन गई है। दूरसंचार सेवा प्रदाता एयरटेल के कोलकाता क्षेत्र के एक प्रवक्ता के अनुसार वर्तमान में एक उपभोक्ता द्वारा शुरुआती रिंगटोन पर खर्च करने हेतु 15/- रुपये, कॉलर रिंगबैक टोन के लिए 30/- रुपये, तथा प्रत्येक रिंगटोन को डाउनलोड करने हेतु 9/- रुपये का अनुमानित व्यय करने हेतु तैयार होता है।

दूरसंचार के क्षेत्र में मोबाइल ऑपरेटरों द्वारा उपलब्ध आंकड़ों के अनुसार रिलायंस/जियो उपयोगकर्ता प्रति दिन 7.5 लाख धुन/टोन और एयरटेल उपयोगकर्ता 3.5 लाख धुन/टोन डाउनलोड करते हैं। दूरसंचार उपभोक्ताओं की संख्याएँ बताती हैं कि मूल्य-वर्धित सेवाएँ क्रमानुसार व्यवस्थित हो रही हैं। एसएमएस की लोकप्रियता के बाद, रिंगटोन सेवा सर्वाधिक व्यवहार की जाने वाली मूल्य-वर्धित सेवा (Value Added Services or VAS) बन गया है।

VAS हेतु संगीत कंपनियां धुन आधारित सामग्री या रिंगटोन स्वयं उपलब्ध करती हैं। धुन/टोन नीति नियंत्रक व एग्रीगेटर जो कॉपीराइट और संगीत प्रारूपण जैसे प्रमुख कार्य सहित अन्य मुद्दों की देखभाल करता है, जिसे फोन कंपनी, उपभोक्ता को उपलब्ध कराती है।

भारत में, दूरसंचार सेवा प्रदाता ने सर्वप्रथम रिंगटोन सेवा शुरू की और पुनः रिंगबैक टोन (एयरटेल द्वारा हैलो ट्यून्स और हच कॉलर ट्यून नाम दिया गया) को लॉन्च किया था।

साउंडबज इंडिया के जीएम पंदार ठाकुर, जो एक एग्रीगेटर और ऑनलाइन सेवा प्रदाता हैं के अनुसार साउंडबाज अकेले मोबाइल उपभोक्ताओं को प्रति माह करीब 2.25 मिलियन रिंग टोन उपलब्ध करवाती है। इन आंकड़ों ने दूरसंचार सेवा प्रदाता के सभी मोबाइल ऑपरेटरों को आश्वस्त किया है कि यदि उपभोक्ताओं को सही तरीके से सेवाएँ उपलब्ध कराई जाए तो रिंगटोन और रिंगबैक टोन आय प्राप्ति हेतु एक असीमित भंडार वाली सोने की खान है।

भारत में डिजिटल संगीत सामग्री के सबसे बड़े वितरक के रूप में स्थापित "हंगामा" के मुख्य

Scanned with CamScanner

परिचालन अधिकारी अल्बर्ट अल्मेडा के अनुसार "एक पूर्ण गीत के व्युत्पन्न होने के बावजूद कॉलर टॅयून अब संगीत का सबसे बड़ा योगदानकर्ता बन गया है।"

संदर्भ सूची -

1. दूरसंचार सेवाओं पर स्थिति रिपोर्ट, योजना, नवम्बर 2010
2. विकिपीडिया
3. इलेक्ट्रोनिक्स फौर यू (मासिक पत्रिका)
4. financialexpress.com (डिजिटल पत्रिका)

Scanned with CamScanner

राग भैरवी

राजीव कुमार

सब कोमल सुर भैरवी, संपूरन सुर होई।
म सा वादी-संवादी है, सब जो चाहे कोई।
- राग चंद्रिकासार।

इसे भैरवी थाट से उत्पन्न माना गया है। यह अपने ही थाट का आश्रय राग है। इसके मूल स्वरूप में सभी स्वर कोमल है, परन्तु वर्तमान में भैरवी का जो स्वरूप प्रचलित है, उसमें शुद्ध ऋषभ का प्रयोग इसके आरोह में अधिक होने लगा है। सभी स्वरों के प्रयोग होने के कारण इसकी जाति सम्पूर्ण-सम्पूर्ण है। हॅलाकि कदाचित, संगीत ग्रंथकारों को छोड़कर सभी ने इसका वादी स्वर मध्यम और संवादी स्वर षडज माना है। कुछेक संगीतज्ञ 'प' - 'सा' भी वादी संवादी मानते हैं परन्तु आधुनिक काल के संगीत मर्मज्ञ पं० रामाश्रय झा 'रामरंग' ने अपनी पुस्तक अभिनव गीतांजलि भाग-5 में बिल्कुल तर्कसंगत अपना मत प्रस्तुत किया है कि "क्रियात्मक एवं व्यवहारिक दृष्टि से जब इस राग के स्थाई अन्तरे पर दृष्टिपात् करते हैं तो बहुत कम रचनाओं में मध्यम, वादी के रूप में प्रयोग भी पूर्ण न्यास अथवा न्यास बहुत्व के रूप में नहीं हुआ है। हाँ अभ्यास बहुत्व के रूप में अवश्य है। इसके विपरीत अस्सी प्रतिशत रचनाओं में पंचम स्वर का वर्चस्व है। परन्तु रागों में जो वादी स्वर का एक आन्तरिक महत्व है, उसके लिए धैवत स्वर ही विचारणीय है।"[1]

संगीत शास्त्र के अनुसार राग भैरवी उत्तरांग प्रधान राग है और प्रातः गेय है। यथा-

'संपूर्णा भैरवी ज्ञेया प्रातः काले प्रगीयते।'

परन्तु यह मानना पड़ेगा कि शास्त्र नियम से समाज की बनाई परम्परा अधिक महत्वपूर्ण होती है। इसी कारण भैरवी को सर्वकालीन राग कहा गया है, अर्थात् इसे किसी भी समय गाया- बजाया जा सकता है। परन्तु यह सर्वकालीन क्यों है, इसका सही उत्तर किसी के पास नहीं है। वर्तमान में ऐसी परम्परा है कि किसी भी संगीत सभा या गोष्ठियों का समापन इसी राग के गायन-वादन से होता है। यह चंचल प्रकृति का राग है। अतः इसमें छोटा ख्याल, तराना, टप्पा ठुमरी आदि गाई- बजाई जाती है।

अपने पूज्य गुरूदेव के आशीर्वाद से, राग भैरवी में स्वलिखित एक छोटा ख्याल (मध्यलय) तीनताल में निबद्ध यह बंदिश प्रस्तुत कर रहा हूँ:-

आरोह - सा, रे, ग, म, प, ध नि सां।

अवरोह- सां नि ध प म ग रे सा।

पकड़ - म ग सा रे सा, ध नि सा।

न्यास के स्वर- सा ग म प ध।

राग भैरवी- तीनताल (मध्यलय)[2]

स्थाई - सबका मंगल करने वाली माँ मेरी जयमंगला।
अंतरा - संकट हरती कष्ट निवारती, खुशियों से झोली भर जाती, तु ही माँ सर्वमंगला।

स्थाई

ग प प प - प ध म प ध नि ध प म - ग रे
स ब का ऽ मं ऽ ग ल क र ने ऽ वा ऽ ली ऽ

शोध छात्र, वि०वि० संगीत एवं नाट्य विभाग, ल० ना० मि० वि० वि०, दरभंगा।

Scanned with CamScanner

0 3 X 2

अंतरा

ग - म म ध ध नि ध सां - सां सां रें नि सां सां

सं ऽ क ट ह र ती ऽ क ऽ ट नि वा ऽ र ती

नि नि नि - सां - सां - नि सां रें सां ध - प -

खु. ि यों ऽ से ऽ झो ऽ ली ऽ भ र जा ऽ ती ऽ

प - प - पध निध प मग गम पग ग म रे - सा

-

तु ऽ ही ऽ मॉऽ ऽऽ स र्ज मंऽ ऽऽ ऽ ग ला ऽ ऽ ऽ

0 3 X 2

Scanned with CamScanner

हिन्दुस्तानी संगीत में गायन के प्रमुख 'घराने'

राधा गोविन्द मिश्र

हिन्दुस्तानी संगीत में ''घराना'' शब्द अति महत्वपूर्ण है, जो दुनियाँ के किसी भी संगीत में नहीं पायी जातीं। घराना का आदि स्त्रोत घर है। घराना का अगर कलात्मक और संगीतमय विश्लेषण किया जाय तो उसे 'संगीत की सौन्दर्य प्रणाली' कहने में अतिशयोक्ति नहीं होगी।

घराने की अपनी ही तात्विक भूमिका है और संगीत के वाङ्गमय - मंडल में उसका एक अद्‌भुत स्थान है। जहाँ तक मैं घराने के बारे में जानता हूँ वह यह है कि जब कोई गायक कुछ शिष्य तैयार करते है और वह शिष्य कुछ अन्य शिष्य का तैयार करते है। अतः जब शिष्य तैयार करने का कार्य पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलने लगती है तब उसे घराना कहा जाता है।[1]

संगीत में मुख्यतः गायन वादन एवं नृत्य के अनेक घराने हैं परंतु गायन का शोध छात्र होने के नाते मैं मुख्यतः गायन के घराने पर अपना आलेख केन्द्रित करता हूँ। हिन्दुस्तानी संगीत में कई घराने हैं किन्तु प्रमुख घरानों में दरभंगा-घराना ग्वालियर-घराना आगरा-घराना किराना-घराना, अल्लादिया खाँ के घराने, जयपुर-घराना, पटियाला-घराना है। जयपुर-घराने को आगरा घराने को एक शाखा कह सकते है और इंदौर घराने का जिसके मूर्धन्य प्रतिनिधि उस्ताद अमीर खाँ थे, किराना घराने को कोमल वल्लरी की पदवी दी गयी। पटियाला-घराना को जिसके महान, प्रतिनिधि गायक स्व० उस्ताद बड़े गुलामअली खाँ थे, एक प्रांतीय प्रणाली कहें तो अनुचित न होगा। इतना ही नहीं दरभंगा-घराना के पं० रामचतुर मल्लिक तथा पं० विदुर-मल्लिक महान गायक थे। इन्होंने अपने गायन से जनमानस के साथ-साथ राजा तथा महाराजाओं को भी आनंदित किया।

हिन्दुस्तानी संगीत की विशेषकर ख्याल गायकी की यह विशेषता है कि गायक राग की बंदिश में अपनी प्रतिभा के अनुकूल इतना घूम सकता है, जितना हृदयांतराल में अंतरात्मा। एक ही राग जब अलग-अलग घराने के लोग गाते हैं, तो उसका आनंद भी अलग-अलग आता है। इसका कारण यह है कि हर घराने का गायक राग को अपने घराने की विशिष्टता में ओतप्रोत होकर प्रस्तुत करता है।

गुरूकुल प्रथा के प्रतीक घराने- कुछ संगीतज्ञों और विद्वानों का यह भी कहना है कि भारतीय संगीत में प्रचलित 'घराने' पुरानी गुरूकुल-प्रथा के प्रतीक है, जैसे हर-गुरूकुल का विद्यार्थी अपने को गुरू का शिष्य ही नहीं परंतु पुत्र भी मानता था। अपने आचार्य और आश्रम के प्रति उसे बड़ी आस्था थी। जो अपनी जननी और कुल के प्रति होती है। इसी आस्था और श्रद्धा का एक सीमित विस्तार घराना में मिलता है। जिस घर के उस्ताद या गुरू के शिष्य ने संगीत-शिक्षा पायी और अगर दो तीन या चार पीढ़ी तक इस गुरू के शिष्य प्रतिभाशाली और लोकप्रिय बन सके, तो उस घराने की जड़ें जनकल्पना और रूचि में सुदृढ़ हो गयी।

भारतीय शिक्षा पद्धति में विशेषकर संगीत में गुरू का बड़ा महत्व है। विविध परिवार और घर की आस्था एक परमपूज्य संख्या के रूप में सन्निहित है। मुगल काल में भी मथुरा के बाबा हरिदास ध्रुपदिये का घराना बड़ा प्रसिद्ध था। तानसेन और उसके पुत्र विकास खाँ का संगीत उसी घराने की देन

पूर्व स्नातकोत्तर छात्र, वि०वि० संगीत एवं नाट्य विभाग, ल० ना० मि० वि० वि०, दरभंगा

Scanned with CamScanner

है। संगीत और नृत्य को प्रवृत्तियाँ और निवृत्तियाँ, जो विशेष व्यक्तियों में निहित थी शिक्षा और प्रचार वे माध्यम से जनता तक जब पहुँची, तब तक शिष्य ने अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति को गुरू का महाप्रसाद ही कहा, उसी दिन से घराने का जन्म हुआ। घर आखिर व्यक्तियों का समूह या गठबंधन ही है और घराना इसी विचारधारा का कलात्मक विस्तार कहा जा सकता है।

गायन के प्रमुख घराने इस प्रकार है:-

ग्वालियर घराना- घरानों में सबसे प्रमुख ग्वालियर घराना है, जिसके आदि गायक दो भाई हद्दू, हस्सू खाँ थे। सन् 1850 से लेकर 1875 तक इन दोनों भाइयों ने भारतीय संगीत की महान सेवा की जो हमारे संगीतज्ञों के लिए भी बहुत लाभकारी सिद्ध हुआ। इनके शिष्य बालकृष्णबुवा इचलरंजिकर तथा इनके शिष्य विष्णु दिगम्बर पलुस्करं हुए। पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने भारतीय संगीत की जो सेवा की है, वह यावत् चंद्र दिवाकरौ स्मरणीय रहेगी। ग्वालियर घराने की विशेषता है- सादीऔर सुरीली गायकी, आकर्षक आलाप और प्रचुर बोल तानें। गीतों का उच्चारण इतना शुद्ध है कि राग की भावना और शब्दों के भावांतरों में एक विचित्र, सामंजस्य दिखाई देता है। इस घराने में और भी बहुत ख्यातिप्राप्त गायक हैं जिनका नाम है- नारायण राव व्यास, विनायकराव पटवर्धन, प्रो० बी० आर० देवधर और डी० वी० पलुस्कर, इस घराने के आधुनिक प्रतिनिधि है।

ग्वालियर घराने के अन्य गायको और संगीतज्ञों में राजाभैया पूछवाले और कृष्णा राव शंकर पंडित का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है। श्री कृष्णाराव की गायकी में गूढ़ता और लय व सुर का लगाव उनके संगीत को उच्च श्रेणी का बना देता है। इस घराने की वास्तविक प्रशस्ति का कारण (श्रेय) पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर को दिया जाता हैं जिन्होंनें संगीत का प्रचार-प्रसार करना अपना धर्म समझा और ऐसे प्रतिभाशाली एवं कुशाग्र बुद्धि के शिष्य तैयार किए जिन्होंने संगीत को जनता तक पहुँचाया। इस महान यज्ञ में सर्वश्री नारायणराव व्यास, विनायक रव पटवर्धन, और प्रो० बी० आर० देवधर का योगदान उल्लेखनीय रहा है। इन तीनों ने संगीत संस्थाएँ ही नहीं स्थापित की अपितु संगीत पर पुस्तकें भी लिखी और मौलिक बंदिशें भी रची। अतः हम यह कह सकते हैं कि संगीत में ग्वालियर घराने का योगदान बहुत ही महत्वपूर्ण है।

किराना घराना-किराना घराना के आदि गायक थे स्वर्गीय उस्ताद अब्दुल करीम खाँ। खाँ साहब को जिसने भी सुना वह उनका भक्त बन गया। किराना घराने की गायकी की विशेषता है 'समधुर स्वर'। राग को सुर माधुरी में डुबो देना किराना घराने वालों को आता है। किराना घराने की गायकी इतनी स्वर प्रधान है कि आलाप में हीराबाई बड़ोदकर जैसी गायिका अपने गायन में बाईस श्रुतियों का समन्वय कर लेती हैं। किराना घराने की गायकी को प्रचुर रस वर्षा कहें तो अनुचित न होगा। इस गायन की तुलना ऐसे भोज से की जा सकती है, जिसमें सभी व्यंजन मीठे है और छप्पन व्यंजन तो लाभकारी तथा रूचिकर मालूम होता है। अतः हम उस्ताद अब्दुल करीम खाँ को संगीत में किराने घराने का माधुर्य का पुजारी कह सकते है, जो अनुचित न होगा।

करीम खाँ का कहना था:-

'सुर गया तो सिर गया, ताल गया तो बाल गया। किराना-घराने के गायकों में सवाई गंधर्व, गंगूबाई हंगल, हीराबाई बड़ोदेकर, सरस्वती राने, सुरेशबाबू माने, भीमसेन जोशी, वासवराज राजगुरू, प्रमुख हैं। उस्ताद अब्दुल करीम खाँ और उस्ताद अब्दुल वहीद खाँ इस घराने के दो आधार स्तभ थे। यह घराना बहुत लोकप्रिय है और अनेक होनहार गायको ने अपनी गायको को इस ढ़ाँचे में ढ़ालने की कोशिश की हैं। ऐसे ही नवयुवक कलाकारों में हैं विदुषी प्रभा आत्रे।

अल्लादिया खाँ घराना- उस्ताद अल्लादिया खाँ एक महान गायक और संगीतज्ञ थे, जिन्हें गायक ऋषि कहा जा सकता है। अल्लादिया खाँ की गायकी माँ जाह्नवी के प्रवाह की तरह है। तेज गति तथा गहराई से स्वरों का उच्चारण करना इस पद्धति की विशेषता हैं। स्वर और लय का अनूठा समन्वय इस गायकी में समाहित है। तान और बोलतानों की फुलझड़ी जब छूटती है तो श्रोता मुग्ध हों जाते हैं।

Scanned with CamScanner

इस घराने में स्वरों एवं लय पर गाने के बोल तथा स्वरलिपि के संरगम के बोल बड़ी सावधानी व सुगमता से उच्चारण की जाती है। इस घराने के प्रमुख गायक और प्रचारक थे स्वर्गीय मंजी और बुजी खाँ, जो उस्ताद अल्लादिया खाँ के सुपुत्र थे। परंतु ये दोनों बहुत दिन तक नहीं जी सके। श्रीमती केसर बाई केरकर, मोधाबाई कुर्डीकर मल्लिकार्जन मंसूर निवृत्ति बुआ सरनाइक इस घराने के ज्वलंत उदाहरण हैं। इन्होंने संगीत को नई चेतना और आनेवाली पीढ़ियों को प्रचुर प्रेरणाएँ दी है। होनहार नवयुवक कलाकारों में उस समय किशोरी अमोनकर जिनका गायन उन्नति पर था। कुछ शास्त्रकारों तथा कलाकारों ने इस घराने को बीनकार की संज्ञा दी है। उनका कहना था कि इस घराने के संरक्षक तथा पोषक अधिकतर बीनकार ही हुए जैसे- सादिक अली खाँ, बंदे अली खाँ तथा मुराद खाँ इत्यादि।

इस घराने की विशेषताएँ :- कठिन गायकी आलाप प्रधान गायको स्वर लगाने का भावप्रधान ढ़ंग, स्वर की विलम्बित बढ़त, चैनदार गायकी। अतः हम यह कह कह सकते हैं कि यह घराना भारतवर्ष को बहुत प्रभावित किया।

आगरा-घराना- आगरा घराना का विशेष सम्बन्ध ग्वालियर घराने से है इसलिए बहुत सी बात आपस में मिलती जुलती है। इस घराने के प्रवर्तक सुजान खाँ थे। आगे चलकर इस घराने का प्रचार-प्रसार घग्गे खुदाबख्श द्वारा। अतः हम यह कह सकते हैं कि आगरा-घराना उस प्रणाली का प्रतिनिधित्व करता है जो संगीत जगत में अंबर की तरह छा गयी थी। इस घराने के आदि गायक थे घग्गे खुदाबख्श। उस्ताद नत्थन खाँ और विलायत हसैन खाँ को इस घराने का महारथी कह सकते हैं। पर इस घराने की नाक और आन आफताबे-मौसिकी उस्ताद फैयाज खाँ थे। इस घराने ने ध्रुपद की पृष्ठभूमि को अपने गायन से अलग नहीं होने दिया। उस्ताद फैयाज खाँ का गायन 'नोम-तोम' आलाप से शुरू होता था और राग का आकार अपनी साकार झलक दिखाता था। आगरा घराना को संपूर्ण घराना कहना न्याय-संगत होगा। आगरा-घराने वालो के बोलतान, बक्रतान और लयकारी अद्वितीय थी। जिन्होंने भी उस्ताद फैयाज खाँ को सुना है, वो अपने आप को बड़े भाग्यशाली समझते है। मानो ऐसा लगता है कि आगरा घराने का सूर्य अपने मध्याह्न पर पहुँच चुका था। इस घराने के युवक गायकों में खादिम हुसैन, अजमत हुसैन, लताफता हुसैन, और मौजूद हुसैन है। यह घराना घर के दायरे में ही सीमित रह गया। काश इस घराने के गायक जनता तक अपनी शिक्षण ले जाते तो हिन्दुस्तान की प्रगति में चार-चाँद लग जाते।

आगरा घराने की विशेषताएँ:- ग्वालियर घराने की तरह खुली एवं जवारीदार आवाज, ध्रुपद के समान ख्याल में भी नोम-तोम का आलाप, जबड़े का अधिक प्रयोग, बन्दिशदार चीजें बोलबनाव में कुशलता ख्याल के अतिरिक्त ध्रुवपद- धमार और ठुमरी में भी प्रवीणता, बोलतान की विशेषता, लय तथा ताल पर विशेष अधिकार।

दिल्ली-घरानाः- तानरस खाँ ने मुगलों के पतन के बाद दिल्ली घराने की नीव रखी। तानरस खाँ नाम से ही पता चलता है कि ये तान के महान कलाकार होंगे। इनके तान करने पर ऐसा मालूम पड़ता था जैसे बहुत से पक्षी एकदम उड़ गये हों। तानरस खाँ के पुत्र उमराव खाँ ने इस घराने को आगे बढ़ाया। इस घराने के प्रतिनिधि कलाकार उस्ताद चाँद खाँ थे।

दिल्ली घराने की विशेषताएँ :-

ख्याल की कलापूर्ण बंदिश तानों में निरालापन, अच्छी तैयारी द्रुतलय में बोल तानों का प्रयोग, शब्दों के उच्चारण पर विशेष ध्यान

पटियाला-घराना- इस घराने का निर्माण अलैया फत्तू ने किया। अलैया का अर्थ अलीबख्श तथा तल का अर्थ फतह अली है। इन दोनों भाइयों ने जयपुर की गोरखी बाई बैरम खाँ तथा तानरस खाँ से शिक्षा प्राप्त की थी। इस घराने में चोटी के कलाकार हुए जिनका नाम क्रमशः तानरस खाँ, मियाँ काले खाँ तथा फतेह अली थे। इस घराने के प्रतिनिधि कलाकार बड़े गुलामअली खाँ तथा उनके पुत्र मुनव्वर अली खाँ थे।

पटियाला घराने की विशेषताएँ:-

ख्यालों की कलापूर्ण बंदिश किन्तु संक्षिप्त ख्याल,

Scanned with CamScanner

तानों की तैयारी और उनका अधिक प्रयोग, अलंकारिक वक्र तथा फिरत तानो का प्रयोग, ख्याल के साथ पंजाब अंग की ठुमरी गाने में निपुणता, गले की तैयारी।

जयपुर घराना- इस घराने का जन्म 150 वर्ष पूर्व मोहम्मद अली ने किया। कुछ लोगों का विचार है कि इस घराने के प्रवर्तक मनरंग थे। अतः अब पता चला की मुहम्मद अली इनके वंशज थे तथा फिर यह तय हो गया की मोहम्मद अली ही इस घराने के जन्मदाता थे। इनके पुत्र प्रसिद्ध संगीतज्ञ आशिक अली खाँ थे। आशिक अली खाँ पहले गाना गाते थे, बाद में सितार बजाने लगे। इनके शिष्यों में जी. एन. गोस्वामी, मुस्ताक अली अनवरी बेगम प्रमुख थे। अतः हम यह कह सकते है कि इस घराने की प्रातिनिधि कलाकार-रसूलन बाई, मुस्ताक अली तथा अनवरी बेगम थे।

जयपुर घराने की विशेषताएँ:-

गीत की संक्षिप्त बंदिश, वक्र तान तथा छोटी-छोटी तानों से आलाप की बढ़त, खुली आवाज का गायन, आज लगाने का अपना ढ़ंग, स्वर सौन्दर्य पर विशेष बल इत्यादि।

अतः हम यह भलिभाँति कह सकते हैं कि हिन्दुस्तानी संगीत में 'घराना' बहुत ही व्यापक महत्व रखता है। बिना घराने के हमारी कोई गायन शैली न होती और अगर होती भी तो उसका पहचान करना कठिन होता। क्योंकि घराना ही एक ऐसी विरासत होती है जो गायन शैली व गायन के अंदाज को संजो कर रखती है और एक दूसरे घराने से पृथक करती है। अतः घराना किसी संगीतज्ञ के लिए उसकी सबसे बड़ी पहचान जो उसके गायन से भी पता लगता है। अतः घराने का महत्व हमारे हिन्दुस्तानी संगीत में बड़ा ही व्यापक है।

संदर्भ ग्रंथ

1. श्रीवास्तव हरिश्चंद्र राग परिचय-भाग 2
2. श्रीवास्तव हरिश्चंद्र राग परिचय-भाग 3
3. संगीत निबंधावली, लेखक-किरन फाडक
4. संगीत विशारद- लेखक वसंत

Scanned with CamScanner

उपशास्त्रीय संगीत में भाव-संप्रेषण की तकनीक

रीना दत्त

कला मानव-संस्कृति एवं सौंदर्य की उपज है। कार्य कुशलता ही कला है तथा 'आनंद-दान' ही कला का उद्देश्य है। इसमें संगीतकला अधिक प्रभाव डालनेवाली कला है। मनुष्य के हृदय में सोये हुए भावों को जगाने में संगीत जितना सक्षम है उतनी और कोई विधा नहीं । इस कला में विशेष प्रकार के गुण हैं जिसमें मनुष्य के अतिरिक्त पशु-पक्षियों को भी आकर्षित करने की शक्ति रहती है । प्रत्येक कला के दो मुख्य केंद्र होते हैं। प्राचीन शब्दों में हम कहें तो ये भेद हैं-सात्वती और कैशिकी । अर्वाचीन शब्दों में कहें तो ये भेद हैं-क्लासिकल और रोमांटिक। जिसमें आकार-प्रकार, रूप-विन्यास के सौंदर्य का प्राधन्य हो वह सात्वती वृत्ति या शैली की कला है। जिसमें भाव की कोमलता, सूक्ष्मता और सुकुमारता का प्राधन्य हो वह कैशिकी वृत्ति या शैली की कला है ।

उपशास्त्रीय संगीत में शास्त्रीय संगीत तथा लोकसंगीत अथवा शास्त्रीय संगीत और लोकप्रिय संगीत का मिश्रण होता है । लोकगीतों में ध्रुपद, धमार, होली व चैती आदि अनेक विधाएँ हैं जो पहले लोक-संगीत की भाँति प्रकाश में आए और बाद में उनका शास्त्रीयकरण किया गया । इनके शास्त्रीय रूप का विद्वान पूरी तरह पालन करते हैं, लेकिन आज भी लोक-संगीतकार इसके शास्त्रीय रूप का गंभीरता से पालन किए बिना इन्हें सुंदरता से प्रस्तुत करते हैं। उपशास्त्रीय संगीत में ठुमरी, टप्पा, दादरा, चैती, घाटो, कजरी, झूला, होरी इत्यादि आते हैं। आगे क्रमानुसार इन सभी विधओं में प्रयुक्त तथा निहित भावों को संप्रेषित करने हेतु उपयुक्त कलाकारिता 'तकनीक' को वर्णित करने का प्रयास किया है मैंने इस शोध के अंतर्गत।

ठुमरी

संगीत में 'ठुमरी' उपशास्त्रीय संगीत विधा का प्रकार है जो भावाभिव्यक्ति की कला है। ठुमरी की प्रकृति कोमल है। यह हिन्दुस्तानी संगीत की वह आधुनिक शैली है जो मुख्यतः श्रृंगार रस से ओत-प्रोत है। ठुमरी की अवतारणा वाद्यों में स्वर, लय व ताल के माध्यम से तथा गायन में इनके साथ-साथ शब्दों के माध्यम से श्रृंगारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। गीत में निहित भावों को संप्रेषित करने हेतु ठुमरी में निम्न 'तकनीकों' का उपयोग किया जाता है।

1. स्वर-सौंदर्य- वे सभी तत्व इसमें आते है जो भारतीय शास्त्रीय-संगीत में सहायक होती है, उदाहरणार्थ आलाप, तान, मींड, खटका, मुर्की, सूत, खुनकी इत्यादि। किंतु ठुमरी के आलाप और तान ख्याल के आलाप और तानों से बहुत छोटे होते हैं और उनकी तरह बोझिल नहीं होते हैं। मुरकियों और छोटी तानों का प्रयोग राग का सौंदर्य बढ़ाने के लिए किया जाता है।

2.ठुमरी और लय-ताल- ख्याल की भाँति ठुमरी को भी दो प्रकार से गाया जाता है:-

(i) विलम्बित ठुमरी

(ii) द्रुत ठुमरी

(i) विलम्बित ठुमरी- यह जत, दीपचंदी तालों में गायी जाती है जो ठुमरी गीतों के भावों को प्रकट करने के लिए उपयुक्त है क्योंकि इस प्रकार बोलों

शोध छात्र, वि०वि० संगीत एवं नाट्य विभाग, ल० ना० मि० वि० दरभंगा।

Scanned with CamScanner

के भावचित्र पूर्ण रूप से व्यक्त किए जा सकते हैं । हम देखते हैं कि अधिकतर ठुमरी प्रस्तोता बोल बनाव की ठुमरी में अंतरा गाने के बाद बढे हुए लय में कहरवा ताल में गायन करते है। तबला वादक के लिए यह अच्छा समय होता है जब वो लग्गी-लड़ी के द्वारा अपनी कला का प्रदर्शन कर सके। श्रृंगारिक रचनाओं में यह ठीक भी है किंतु विरह-विषादपूर्ण ठुमरी में यह अशोभनीय और हास्यास्पद लगता है। अतः मर्मज्ञ गायक दीपचंदी अथवा जततालों में गाने के पश्चात् अंतरा में कहरवा में नहीं वरन् तीनताल में ही गायन करते हैं।

'जततात' में एक विलंबित ठुमरी जो राग 'झिंझौटी' में निबद्ध है-

स्थाई

कौन गली गये श्याम बता दे सखी।

अंतरा

गोकुल ढूढ़ी वृंदावन ढूढ़ी, ढूढ़ पड़ी चारों धाम

ठुमरी का नृत्य से गहरा संबंध है। यह नृत्य के साथ भी गायी जाती है ताकि नृत्य अभिव्यक्तिपूर्ण हो सके, अर्थात् उसके हाव-भाव को सुगमता से समझा जा सके। इसकी कविता में लययुक्त विभाजन तथा उचित बंदिशें होती हैं। ये साधारण रूप से त्रिताल या कहरवा ताल में गाई जाती है।

'तीनताल' राग 'बिहाग' में निबद्ध एक ठुमरी-

स्थायी

सखी प्यारी-प्यारी अखियाँ राधे की।
मन मोह लियो मनमोहन की।।

अंतरा

श्याम सुंदर हमरो अति भोरो।
देखत ही उरझा लेगो।।

3. स्वर-साज और संगीत का संतुलित प्रयोग- ठुमरी में भावनात्मकता, चंचलता और मचलाहट के द्वारा भाव-विस्तार होते हैं। ये उसके गीत रचनाओं, छोटी तानों, ध्वनि बोल-बनाव तथा सहायक साजों यथा सारंगी, हारमोनियम, तबला, तानपूरा आदि में दिखाई देते हैं । मुख्यतः इसका रस श्रृंगार-रस है।

ठुमरी दो प्रकार की होती है–

(i) बंदिश या बोल-बाँट की ठुमरी

(ii) बोल-बनाव की ठुमरी

(i) बंदिश या बोल-बाँट की ठुमरी- बोल-बाँट की ठुमरी में लय का चमत्कार रहता है । इसमें सितार, सरोद इत्यादि वाद्यों के गत का सौंदर्य रहता है। इस प्रकार की ठुमरी नृत्य के लिए बहुत अनुकूल होती है ।

(ii) बोल-बनाव की ठुमरी- इसमें भावाभिव्यक्ति की प्रधानता होती है । यह स्वर और लय में दिल की कहानी होती है । ठुमरी शैली की विशेषताएँ हैं- दर्द प्रकार, झटका, खटका, मुर्की जमजमा, स्वरों की सुकुमार अंगियाँ। इसमें ख्याल की तरह आकार से आलाप या तानें नहीं लेते हैं । केवल उठाने के लिए अथवा समाप्ति के लिए एक विशेष प्रकार से यदा-कदा आकार की अल्प तानें ले लेते हैं ।

4. अन्य रागों के स्वर और उनकी छाया-ठुमरी अपने उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए इनका प्रयोग करती है और ये राग के अनुकूल होते हैं ताकि रागों व छायाओं का प्रयोग भलीभाँति गीत-कविता के भाव को प्रकट कर सके। ठुमरी वस्तुतः ध्रुपद और ख्याल के विपरीत एक ऐसी शैली है जिसमें मुख्य राग में दूसरे रागों के स्वरों या छायाओं का प्रयोग होता है वे साधारणतया उसी थाट के होते हैं जिस थाट का मुख्य राग होता है अर्थात् जो मूल राग से मेल खाते हैं इसके विपरीत कभी-कभी अन्य थाट के रागों का भी समावेश किया जा सकता है यदि वे मूल राग के विपरीत न हों । गायक अन्य रागों के स्वरों व छायाओं का प्रयोग इस कुशलता से करता है कि मूल राग से स्वरूप और उसकी प्रधानता में कोई कमी नहीं आती उसका आविर्भाव और तिरोभाव भलीभाँति स्पष्ट होता रहता है या यों कहिए कि यद्यपि अन्य रागों के स्वर और छायाएँ ठुमरी के मूल राग में लाये जाते हैं तथापि वह इससे इस तरह मिल जाते हैं कि मूल राग की अखण्डता बनी रहती है । इसके साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए की रागों का मिश्रण जो ठुमरी के अंदर किया

Scanned with CamScanner

जाता है बिना किसी उद्देश्य के नहीं होता । यह उद्देश्य कविता के भावों को व्यक्त करते हुए उसे मधुर बनाना है । ठुमरी शैली में भाव-संप्रेषण हेतु इसकी उपयोगिता अधिक होती है । ठुमरी की विशेषता अधिक सीमा तक इसी पर आधरित है । अगर ऐसा न करें तो ठुमरी का स्वर-विस्तार और इसका बोल-श्रृंगार पूर्ण रूप से विकसित नहीं होगा और इसका सौंदर्य भी पूर्णतया प्रकट नहीं होगा ।

ठुमरी अनेक रसों वाला एक भाव-संगीत हैं जिसमें बोल प्रधान होते हैं । इसमें उचित स्वरों द्वारा न केवल गीत का मुख्य भाव ही प्रकट करना पड़ता है बल्कि और अन्य भाव भी जिनका उसमें आभास हो सकता है । ठुमरी गायक जितने अधिक रागों का प्रयोग कर सकता है उतना ही इस संबंध में वह सफल हो सकता है । इस प्रकार से कई राग के स्वरों या छायाओं का समावेश ठुमरी गायक अपने क्षमता के अनुसार कर सकता है । लेकिन यह कार्य साधारण गायक के लिए संभव नहीं है । होशियार गायक ही सफलता के साथ इसे करने में सक्षम होता है । ठुमरी का स्वरूप कोमल है, अतः यह उन्हीं रागों में गायी जाती है जो उसके स्वरूप से मेल खाते हैं । अन्य रागों में गाने से या तो राग का स्वरूप बिगड़ जायेगा या ठुमरी अधखिली रह जाएगी।

5.ध्वनि का उतार-चढ़ाव अथवा काकु का प्रयोग- इसका प्रयोग कविता में निहित भावों को प्रभावपूर्ण रूप से प्रकट करने के लिए किया जाता है और यह उतार-चढ़ाव स्वभावतः स्वरों पर निर्भर होता है। ठुमरी का ध्येय यह है कि उलझे हुए स्वरों के मानसिक बोझ को कम करके हृदय के आकर्षण को बढ़ाए। अतः ठुमरी को स्वरों की उलझन और विस्तार से न्यून करते हुए भावों के सौंदर्य पर प्रतिस्थापित किया जाता है । इस ध्येय की प्राप्ति हेतु वह अनेक प्रकार के उपायों, साधनों एवं ध्वनियों के उतार-चढ़ाव को प्रयोग में लाती है।

ठुमरी गायकी की वह शैली है जिसमें आलप्ति की मनोहर भंगिमाओं की सुंदर छटा है । काकु की मार्मिक उद्भावना है । भावों की सूक्ष्मता और सुकुमारता है। जिस गान में इस प्रकार का प्रयोग होता है वह ठुमरी अंग का गान कहलाता है। इस अंग का गान केवल श्रृंगार रस का ही नहीं होता। इस अंग के द्वारा भक्ति, करूण, श्रृंगार, शांत इत्यादि की भी अभिव्यंजना होती है । इधर पचास-साठ वर्ष के भीतर मौजुद्दीन खाँ से बढकर कोई ठुमरी गायक नहीं हुआ। जब वे ठुमरी अंग से ही'गोविंद राखो शरण अब तो जीवन हारे' गाते थे तो श्रोतागण आँख पोंछते हुए दिखलाई देते थे । यह कोई नहीं कह सकता कि उक्त भजन श्रृंगार रस का है किंतु उसे मौजुद्दीन खाँ ठुमरी अंग से ही गाते थे और ऐसा प्रभाव उत्पन्न करते थे कि श्रोता मंत्रमुग्ध हो जाते थे ।

6.बोल-भाव की प्रधानता-ठुमरी में केवल बोल ही प्रधान नहीं होता वरन् बोल-भाव भी प्रधान होता है अर्थात् उसमें गीत के शब्दों की विशेषता ही नहीं प्रकट किया जाए और उसका साधारण भाव किसी विशेष राग के द्वारा ही नहीं दिखाया जाता, जैसाकि ख्याल प्रकार की बंदिश में होता है, बल्कि इसमें वे काव्य-भाव भी व्यक्त किए जाते हैं जो इसकी कविता में निहित होते हैं।

7. क्रमबद्ध स्वर-विस्तार -पूर्व में ठुमरी शैली में एक दोष था कि वह किसी क्रम या विधि पर आश्रित नहीं था अर्थात् स्वरों का क्रमिक स्वर-विस्तार नहीं किया जाता था जैसा कि ख्याल के रागों में किया जाता है । इस कारण ठुमरी एक अनियमित गायन शैली प्रतीत होती थी । वैज्ञानिक, शास्त्रीय ढंग से न गायी जाकर गायक की मनोवृत्ति के अनुसार गायी जाती थी। यह दोष गत वर्षों में दूर हो गया है और इसकी तकनीक में क्रमबद्ध स्वर-विस्तार प्रविष्ट हो गया है जिससे ठुमरी अपने विकास की उच्च अवस्था पर पहुँच गई है। ठुमरी में स्वर-विस्तार से क्रमबद्धता और पूर्णता का आविर्भाव होता है।

टप्पा

टप्पा संगीत की प्रमुख उपशास्त्रीय शैलियों में से एक है । यह माना जाता है कि इस शैली की उत्पत्ति पंजाब व सिंध प्रांतों के ऊँट चलाने वालों द्वारा की गई। इन गीतों में मूल रूप से हीर और राँझा के प्रेम और विरह प्रसंगों को दर्शाया जाता है।

Scanned with CamScanner

भाव-संप्रेषण की तकनीकः-

1. रागों का चयन- टप्पा एक ऐसा गीत होता है जिसमें स्वरों को द्रुत लय में गाते है। यह एक कठिन रचना होती है और इसमें अधिक अभ्यास की जरूरत होती है। श्रृंगार और विरह के भावों को समुचित रूप से प्रकट करने हेतु इसे उन्हीं रागों में गाया जाता है जिनमें ठुमरी गायी जाती है जैसे- तिलंग, खमाज, भैरवी, झिंझोटी, काफी, सिंदूरा, देश इत्यादि रागों में ।

2. ताल की विशिष्टता- पंजाबी, पश्तो जैसे तालों द्वारा इनमें भाव के रंग भरे जाते हैं । इसमें लिए जाने वाले उर्जावान तान और असमान लयबद्ध लहजे टप्पा गायन शैली को शास्त्रीय गायन शैली का रूप देता है लोक शैली से ऊपर उठाकर।

4. स्वरों का माधुर्य- टप्पों को एकाएक प्रस्तुत करने हेतु नियमानुसार पहले आलाप को ठुमरी अंग में गाया जाता है उसके पश्चात् तेजी से लयबद्ध लहजे में बुने शब्दों के उपयोग से तानायत की ओर बढ़ा जाता है। इस शैली की गायकी में तकनीक दिखाने हेतु ज़मज़मा, गीतकारी, खटका, मुर्की व हरकत जैसे कई अलंकार प्रयोग किए जाते हैं।

3. तान की अनोखी शैली-टप्पा गायन शैली में ठेठ 'टप्पे के तान' प्रयोग में लाये जाते हैं, पंजाबी ताल जिसे 'टप्पे का ठेका' भी कहा जाता है, में ताल के प्रत्येक चक्र में तान के खिंचाव और रिहाई का प्रयोग आवश्यक होता है।

उदाहरणस्वरूप एक टप्पा को लेते हैं:-

कला शाह कला
कला शाह कला मेरा कला हे सरदार
गोरें नूँ दफ्फा करो
मैं आप टीले दी तार
कला शाह कला
सास सरिय तेरे पुँज पूटेर
दो इल्ची दो शरावी
सास सरिय तेरे पुँज पूटेर
दो इल्ची दो शरावी
जेरा मेरे हन दा
ओह खिलया पफूल गुलाबी
कला शाह कला

दादरा

दादरा गायन शैली की ठुमरी की तरह ही उपशास्त्रीय संगीत में गणना होती है। वस्तुतः ठुमरी और दादरा का संबंध इतना करीब का है कि ठुमरी का नाम लेते ही दादरा का स्वरूप सामने आ जाता है। ठुमरी जब गति में आ जाती है तब दादरा का स्वरूप समक्ष आ जाता है। यह प्रायः ठुमरी गायन वाले रागों में ही यथा पहाड़ी, भैरवी, खमाज, तिलक कामोद, झिंझोटी, जोगिया, देश, मौंड आदि रागों में गाया जाता है। इसे पूरब अंग की ठुमरी का हल्का संस्करण भी कहा जाता है। इसमें प्रमुख भाव श्रृंगार का होता है किंतु इसमें ठुमरी की अपेक्षा अधिक उन्मुक्तता होती है।

भाव-संप्रेषण की तकनीक

ठुमरी अंग से गाया जाने वाला दादरा ठुमरी के समान ही भावुकता में डूबा हुआ होता है । यह क्योंकि दादरा, कहरवा, इत्यादि तालों में गाया जाता है अतः छः या आठ मात्राओं के ताल में बोल-बनाव करना कठिन होता है किंतु कुशल कलाकार इस छोटी परिधि में भी भावपूर्ण स्वर-संगतियों और मुर्की एवं खटके के प्रयोग से रसमय वातावरण की सृष्टि करते हैं। ठुमरी की भाँति ही दादरा गायन में भी राग की शुद्धता पर विशेष ध्यान न देकर रंजकता पर ही ध्यान केंद्रित कर भाव-संप्रेषित किया जाता है।

राग 'खमाज' ताल दादरा में निबद्ध एक दादराः-

स्थायी

हाँ पिया जाओ जाओ मोसे ना बोलो सौतन के संग रहो

अंतरा

भोर भए घर आए हो मेरे करत डंग नए
सैंयाँ जाओ जाओ मोसे ना बोलो सौतन के संग रहो

Scanned with CamScanner

उपसंहार

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय उपशास्त्रीय संगीत में उपरोक्त वर्णित शैलियों के अलावा भी कई ऐसी गायन शैलियाँ हैं जैसे- चैती, घाटो, कजरी, होली इत्यादि जिनकी अपनी-अपनी गायन विधा और विविध तकनीक हैं उसे प्रस्तुत करने के, भाव-संप्रेषण के।

अतः यह कहा जा सकता है कि उपशास्त्रीय संगीत को जिनका आधार तो लोक गीत है परंतु यदि इनमें शास्त्रीय संगीत की विशिष्ट 'तकनीकों' को भी सम्मिलित कर लिया जाता है तो इनका अनूठापन और माधुर्य हृदय को आंदोलित कर झूमने पर विवश कर ही देता है ।

संदर्भ ग्रंथ-सूची

1. कारवाल श्रीमती लीला, ठुमरी परिचय, प्रकाशक, संगीत सदन प्रकाशन, साउथ मलाका, इलाहाबाद।
2. 'अभिव्यक्ति' शोध पत्र-शांति जैन-www.pustak.org
3. पल्लवी श्रीवास्तव-शोध पत्र- www.shodhganga.inflibnet.ac.in
4. सांस्कृतिक शोध एवं प्रशिक्षण केंद्र (website)
5. Bharat discovery.org(website)
6. Aawaz -hindyugm.com(online magazine)

Scanned with CamScanner

मैथिली संस्कार गीत

डॉ० ललति कुमारी

मिथिला में जितने भी प्रकार के लोकगीत प्रचलित है उसमें सबसे ज्यादा समृद्ध हैं संस्कार गीत। यहाँ षोडश संस्कार विधान है। गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तान्नयन, जातकर्म, नाकरण, निष्क्रमण अन्नप्रासन, चूड़ाकरण, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह, वानप्रस्थ, सन्यास तथा अन्त्येष्टि परन्तु आज के मिथिला में जन्म, मुण्डन, उपनयन, विवाह तथा मृत्यु यही पाँच संस्कार प्रचलित है।

उपर्वुक्त सभी संस्कार मानव के विश्वास एवं परंपरा से प्रचलित है। इसमें समाज की धार्मिक भावना निहित रहती है। इसलिए संस्कार का अर्थ होता है कुछ कृत्य अथवा अनुष्ठान को सम्पन्न करना। इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

संस्कार गीत का सम्बन्ध संस्कृति और साहित्य से तो हैं ही खासकर समाज से भी कम नहीं है इसलिए संस्कृत, साहित्य और सामाजिक अन्तरालम्बन को जितने अच्छे ढंग से संस्कार गीत स्पष्ट करते हैं उतना और कोई नहीं

मैथिली संस्कार गीत की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, वह है इसके भाषा की सरलता, सुगम्यता इसकी दूसरी विशेषता है। तीसरा है लोक मंगल कामना अर्थात् व्यक्तिगत पारिवारिक और सामाजिक जीवन में सुख-शान्ति के लिए देवी देवता से कामना की जाती है। मनुष्य का मन अधर्म से हँटकर धर्म की ओर प्रवृत्त हो इस गीत के माध्यम से अपने इष्ट देवी-देवता से प्रार्थना की जाती है। कहने का तात्पर्य है कि मिथिला के संस्कार गीत धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत है। इस गीत के माध्यम से यहाँ के लोगों में धर्म के प्रति आस्था स्वाभाविक रूप से देखी जाती है।

वास्तव में संस्कार गीतों के कारण ही आज बहुत सारे संस्कार जीवित हैं- ऐसा लगता है कि जबतक ये संस्कार गीत जीवित रहेंगे तबतक ये संस्कार भी। भले ही सामाजिक व्यवहार में इन संस्कारों का प्रचलन समाप्त हो जाए परन्तु इन गीतों के कारण समाज के सामने कुछ ना कुछ संस्कारों की रूपरेखा तो रहेगी ही। संस्कार गीत भूले भटके मनुष्यों को यह बताते रहेंगे की हम पूर्व में क्या थे और क्या हो गए।

विभिन्न संस्कार गीतों के महत्त्व को दर्शाते हुए यह कहा गया है कि ये गीत विभिन्न अवसरों पर समवेत रूप में गाए जाते हैं। इनके कारण उन संस्कारों की पवित्रता और महत्ता को चार चाँद लग जाते हैं- इसलिए क्योंकि इसमें रस है, भाव प्रणवता है, विचारो तेजकता है, आहलादित एवं विभोर कर देने की क्षमता है। सभी गीत एक अजीब प्रकार की रसमयता से ओत प्रोत है। संस्कार से ही संस्कृति बनती है और इन संस्कार गीतों को सुनकर किसी भी संस्कृति को जाना जा सकता है। आज भी सामान्य जीवन में संस्कारों का महत्त्व है। इन संस्कारों को जीवन प्रदान करनेवाला और उन्हे सरल बनाने वाले संस्कार गीतों को हम कैसे भुला सकते हैं।

इन संस्कार गीतों में लोकगीतों की आत्मा बसती है। लोकगीतों के मनोहर फुलवारी से यदि संस्कार गीत को निकाल दिया जाए तो संभवतः लोकगीत नीरस नजर आएगा। इसी कारण संस्कार गीत को लोकगीत का महत्त्वपूर्ण अंग माना जाता है। वे सारी विशेषताएँ संस्कार गीत में विद्यमान है

स०प्रा० (संगीत) बी०एम०एड० महाविद्यालय बहेड़ी, दरभंगा

Scanned with CamScanner

जो लोकगीत का है। संस्कार गीत को मांगलिक गीत भी कहा जाता है। मृत्यु संस्कार को छोड़कर अन्य सभी संस्कार आनन्दोत्सव के रूप में मनाए जाते हैं। मिथिला में मृत्युगीत नहीं गाए जाते हैं। मृत्यु के अवसाद को मूक और करूण भाव से ही सहे जाते है।[1]

हालाँकि मृत्यु के उपरांत कालांतर में शोक गीत गाए जाते हैं लेकिन उसे संस्कार गीत नहीं कहा जाता। संस्कार गीत आनन्द की सहज अभिव्यक्ति और स्वाभाविक रसोन्माद है। मिथिला में उमंगमय वातावरण की स्थिति में नारीकंठ से निकली स्वर लहरी शरीर में थिरकन, हृदय में झंकार एवं मस्तिष्क में चुलबुली उत्पन्न कर देता है।[2]

आधुनिक मैथिल समाज में प्रचलित संस्कारों के आधार पर संस्कार गीतों को मुख्य चार भागों में विभक्त किया गया है- (1) पुत्र जन्म के अवसर पर (2) मुण्डन के अवसर पर (3) यज्ञोपवीत के अवसर पर (4)विवाह के अवसर पर

पुत्र जन्म के अवसर पर गीत गाने की परंपरा अत्यन्त प्राचीन है। कतिपय प्राचीन ग्रंथों में इनका उल्लेख है। आदि कवि वाल्मीकि ने रामजन्म के समय गन्धर्वों द्वारा गाने का वर्णन किया है।

जुगु कलच गन्धर्वा ननृतस्चाप्स रोगनाः
देवदुन्दुमयो मेदुः पुष्पवृष्टिश्च श्वात्पततः।[3]

इसी प्रकार कालीदास ने अज के शुभ जन्म अवसर पर राजा दिलीप के महल में वेश्याओं द्वारा नृत्य करने एवं मंगल वाद्य बजाने का उल्लेख किया है-

सुखश्रवां मंगलतर्यनिस्वनाः
प्रमोद नृत्यैं सह वाश्योषितामु
न केवल सद पनि मागधीपतेः
पथि व्यजम्भन्त दिवोक सामपि।[4]

पुत्र जन्म के पश्चात् के सोहर में चारों तरफ प्रसन्नता का वातावरण, मंगलमय दान दक्षिण वधैया आदि का वर्णन रहता है। मिथिला में धार्मिक सोहर का प्रचलन प्रचुर मात्रा में हैं। यहाँ स्त्रियाँ राम एवं कृष्ण के जन्म से सम्बन्धित सोहर गाती हैं। इन सोहरों में देवी देवताओं का वर्णन रहता है।

जन्म लेल भगवान अवध भेल आनन्द रे
ललना रे चलल सकल सुर देव दरस परमानन्द रे
द्वार ठाढ़ चतुरानन वेद बखानथि रे
ललना रे सेस सहस्त्र मुख शारदा स्तुति गावथि रे
नारद वेनु बजावथि विनय कर रिझावथि रे
ललना रे शंकर ध्यान लगावथि सेहा डमरू
बजावथि रे।[5]

पुत्र जन्म के अतिरिक्त मुंडन और जनेऊ संस्कार के अवसर पर भी मिथिला में अनेक प्रकार के सोहर गाए जाते हैं जिनमें सास ननद के नोक-झोंक के बीच कभी-कभी प्रियतम का प्यार दुलार भी मिथिला के सोहर में सुनने को मिलता है-

बारह बरस जब बीतल तरेहम चढ़ल रे
सासु मोरादेउ लहन ननद गरियावै-रे
गौतुनी हँसे बिकरार सबै धन बाँचत रे
अँगना बहारित तोहें सरखी कि तोहीं मोरा चेरिया रे
चेरिया गे आनि देहो आक धतूर पिसि खायब रे
पलंगा बैसल तोहे धनि तोहें ठकुरानी रे
धनि हे कौन बिरह केर बात धतुर पिसी खायब रे
बारह बरस जब बीतल तेरहम चढ़ल रे
पिया हे सासु मोरा दै उलहन ननदो गारियावै रे
गोतनी हँसे बिकरार सबै धन बाँचत रे
पिया हे यएह बिरह केर बात जहर पिसि खायब रे
चुप रहु धनि तोहें ठकुराइन
धनि हे गाम के पश्चिम पोखरि खुनायब चुन
सँ चुनेरब रे
धनि हे करबै जे काशी विश्वनाथ सब धन लुय देब
रे।[6]

मुण्डन उपनयन के अतिरिक्त विवाह संस्कार के अवसर पर गाए जाने वाले गीतों की संख्या भी अनगिनत है। गोसाउनि, ब्राह्मण, हनुमान के गीत से तो बेटा बेटी दोनों के विवाह संस्कार की शुरूआत होती है। इसके अतिरिक्त नैना योगिन, बेदी घुमाओन, समर, सिन्दूर दान, मौहक, चुमाओन, चतुर्थी, बटगमनी विवाह के प्रथम वर्ष में पूरे साल होने वाले विधि व्यवहार जैसे- वटसावित्री, मधुश्रावणी, जराऔर तथा अन्त में बेटी विदाई के अवसर पर समउाओन गीतों का गायन स्त्रीराग द्वारा की जाती है। सभी संस्कार गीतों के भिन्न भिन्न प्रकार हैं बेटा विवाह के

Scanned with CamScanner

अवसर पर कुमार बारात का गीत गाए जाते हैं जिसमें बेटी विवाह गीत से कुछ भिन्नता रहती है। विवाह संस्कार के विभिन्न गीतों का अलग-अलग वर्णन करना तो विस्तृत काम है, यथासम्भव गीतों को देखा जा सकता है-

बेटी लग्न के गीत-

ऊँचहिं मरवा बन्हबै यौ बाबा
चारू दिश राखब दुआरि यौ
मर बाके काते-काते झिझरी लगायब
बैसता ननुआ जमाय यौ
सोना के मयूर बाबा काते काते नाचे
सखि सब मंगल गाय यौ
कन्या दान कय उठला बाबा
मोती जकाँ झहरनि नोर-यौ
गाय महिंस बेटी दान दक्षिणा
खोइछा भरि देलनि सोन यौ।

कन्यादान के गीत-

गेरूअहि काँप दूबहि छतिया
हाथ काँपै तिलकुश हे
बेटी ले काँपय अपन बाबा
कोना बेटी करीं दान हे
जहिना आहो बाबा इनरा खुनाओल
तहिना करू धिया दान हे।

सिंदुरदान के गीत-

स्वर्ण सिंदुर दुल्हा धीरे से लगाउ
हे दशरथ जी के बबुआ
धीरे-धीरे लली के लगाउ
हे दशरथ जी के बबुआ
लाज ने करू दुलहा, हृदय के सम्हरू
हे दशरथ जी के बबुआ
कँपैत कर करू स्थिर हे दशरथ जी के बबुआ
लली के हृदय लगाउ, हे दशरथजी के बबुआ।

समदाओन (विदाई गीत)

जखन सुनयना डोली दिस ताकथि सीता भेली कनैत अधीर भरलो आँगन जतेक नर-नारी,ककरहु नहिं थीर
चहुँदिस रोवथि सखी हे सहेलिया,
आमा के झहरनि नयन मोती नीर
किए जे बेटी जानकी पोसल
उड़िभेली देश परार
भनहिं विद्यापति सुनु हे सुनयना,
इहो थिक नगर बेवहार[10]

इस गीत का का गावन उस समय होता है, जब विवाह संस्कार के बाद लड़की पिता गृह यानी ससुराल को जाती है। इन गीतों का प्रसंग अत्यन्त कारूणिक होता है। अतः मिथिला में अनेक प्रकार के संस्कार गीत हैं ओर उनमें संगीत तत्व कूट-कूट कर भरा हुआ है।

Scanned with CamScanner

गर्भावस्था में संगीत का चिकित्सकीय महत्व

डॉ0 रुबी कुमारी

प्रकृति की विशिष्टता व सुंदरता विकास पुनः उत्पादन चक्र प्रक्रिया पर निर्भर है। प्रकृति की सर्वाधिक देन जीव में संतानोत्पत्ति ही अनुपम उपलब्धि है। मानव जीवन में स्त्री के गर्भवती होने की उपलब्धि व मातृत्व की प्राप्ति के सम्मान से जीवन पूर्ण होती हे।

"स्त्री की प्रथम इच्छा होती है कि वह पूर्ण स्वस्थ रहकर एक स्वस्थ शिशु को जन्म दे। इच्छा को साकार करने के लिए स्त्री को संतुलित आहार का सेवन के संग मानसिक स्वास्थ का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है, क्योंकि गर्भावस्था के दौरान गर्भवती के स्वयं का एवं उसके अंदर पल रहे शिशु, दोनों का स्वास्थ्य गर्भवती स्त्री द्वारा लिए गए आहार व व्यवहार पर निर्भर करता है। गर्भावस्था के पूर्ण समय काल नौ महीने तक शिशु के शरीर का सम्पूर्ण पोषण एवं विकास गर्भवती स्त्री के द्वारा ही होती है। इसलिए गर्भावस्था, से शिशु के जन्म काल तक का पोषण सम्पूर्ण जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसी समय काल में मानव शरीर में मस्तिष्क बनने और शरीर का विकास आदि होता है। इसलिए गर्भवती स्त्री का प्रयास होना चाहिए की वह अधिक से अधिक पौष्टिक तत्त्वों का सेवन करते हुए मानसिक रूप से स्वयं, एवं विकासोन्मुख गर्भस्थ शिशु, दोनों की पोषण की आवश्यकताएँ पूरी करे। साथ ही स्वस्थ बच्चे के लिये गर्भवती महिला का चित्त प्रसन्न रहना, गर्भणि और गर्भस्थ शिशु के मानसिक स्वास्थ्य के लिए अति आवश्यक है। इसके लिए अनेक प्रचलित कलाएं जैसे संगीत, चित्रकला, इत्यादि विधाओं में मनोनुकूल समय देने से तन मन स्वस्थ एवं प्रसन्न रहता है। इन सभी कला में गर्भवती स्त्री के लिए सर्वाधिक उपयुक्त व सुगम्य संगीत कला है। शारीरिक, मानसिक थकावट या तनाव की स्थिति में मनोनुकूल कर्ण प्रिय संगीत के श्रवण से शांति एवं आनंद की अनुभूति होती है। हिन्दु धर्म के प्रमुख ग्रंथ में एक सामवेद में स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं के निवारण हेतु विभिन्न रागों के प्रयोग का भी वर्णन है। आचार्य शांगदेव ने अपने ग्रंथ संगीत रत्नाकर के स्वराध्याय में स्वरों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए विभिन्न स्वरों से संबंधित स्नायु चक्रों और शारीरिक अंगों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है।"

"गर्भावस्था के दौरान शक्ति बनाए रखने के लिए स्त्रियों को प्रोटीन, लौह-लवण, कैल्शियम एवं विटामिन बी समूह के सभी विटामिन की आवश्यकता होती है, और सामान्य परिस्थिति में जिस संतुलित आहार का सेवन किया जाता है उसकी अपेक्षा गर्भावस्था में स्त्रियों को अधिक मात्रा में, तुलनात्मक रूप से अच्छे आहार के संग मानसिक प्रसन्नतादायक वातावरण की आवश्यकता होती है। गर्भवती माताओं की आहार की मात्रा उनके आवश्यकता के अनुरूप ही होनी चाहिए, जो माताएं इस अवस्था में अधिक श्रम करती है, उन्हें कम श्रम करने वाली गर्भवती माताओं की तुलना में अधिक कैलोरी की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार सामान्य स्थिति की तुलना में गर्भावस्था में मानसिक रूप से अधिक स्वस्थ एवं प्रसन्न रहने की भी आवश्यकता होती है, जिससे स्वयं माता का और उसके गर्भ में पल रहे बच्चे का मानसिक विकास तीव्र गति से हो सके, इसलिए भी संगीत का श्रवण इस अवस्था में आवश्यक है।

सहायक शिक्षिका, गृहविज्ञान विभाग, जया नन्द उच्च विद्यालय , बहेड़ा, दरभंगा

Scanned with CamScanner

गर्भावस्था में संगीत के माध्यम से स्वास्थ्य संबंधी समस्याओं का निदान भी किया जाता है। विशेषतः सामवेद की ऋचाओं के गायन व श्रवण के द्वारा हृदय से संबंधित समस्याओं का समाधान होता है। सामवेद की स्वर लहरी शरीर के रक्त संचालन पर अनुकूल प्रभाव डालती है, जिससे शरीर में हीमोग्लोबिन में ऑक्सीजन की मात्रा बढ़ जाती है।''

स्त्रियों को गर्भ धारण करने के तुरन्त बाद सर्वप्रथम समस्या पौष्टिक आहार की ही आती है, क्योंकि गर्भवती स्त्री को एक विशेष प्रकार की गंध का एहसास होने लगता है और वह खाद्य पदार्थों के प्रति अरुचि महशूस करती हैं। यह प्रवृत्ति प्रायः हरेक सगर्भा में देखने को मिलती है, जिससे भोजन की कमी से उसको अनेक शारीरिक कठिनाइयों, कमजोरी एवं थकान का अनुभव होता है। इसलिए उनको चाहिए कि वे थोड़ी-थोड़ी मात्रा में बार-बार भोजन लें। साथ ही उनका भोजन भरपूर पौष्टिक तत्त्वों से युक्त हो।''

''किसी भी गर्भवती को अपने दैनिक कार्य करने, बीमारियाँ की रोकथाम तथा सुरक्षित व स्वस्थ प्रसव के लिए पौष्टिक तत्त्वों से युक्त भोजन की आवश्यकता होती है। लेकिन फिर भी पूरे संसार में किसी भी अन्य स्वास्थ्य समस्या की तुलना में महिलाओं को कुपोषण का सबसे अधिक सामना करना पड़ता है, जिसके कारण थकावट, कमजोरी, रक्तालप्तता और आशक्तता होती है, ओर इनका स्वास्थ्य पर बुरा असर पड़ता है। इन दुष्प्रभावों को कम करने के लिए, या इनसे मुक्ति के लिए भी संगीत सुनना बहुत उपयोगी है।''

''गर्भावस्था में फल-सब्जियों का अधिक मात्रा में सेवन करने से स्वास्थ्य संतुलन बना रहता है। शारीरिक सौन्दर्य का भी विकास होता है। गर्भावस्था नारी-जीवन की सबसे महत्वपूर्ण अवस्था होती है, और इस अवस्था में उसके सम्पूर्ण स्वास्थ की रक्षा स्वयं उसे एवं उसके परिवार के सभी सदस्यों को प्रसन्नचित्त होकर करनी चाहिए। एक हृष्ट-पुष्ट नन्हे बच्चे को जन्म देने हेतु संगीत न केवल मानसिक प्रसन्नता का माध्यम बन सकता है, बल्कि सौंदर्य के विकास में भी इसका उचित प्रभाव पड़ता है।''

''गर्भवती स्त्री को सात्विक भोजन के संग आवश्यकतानुसार पानी पीनी चाहिए; गाजर, मूली, ककड़ी, पके टमाटर आदि सभी शाक-भाजियाँ खानी चाहिए। किसी एक प्रकार के भोजन से पेट भरने के स्थान पर सगर्भा स्त्री को थोड़े-थोड़े समय के अन्तर से थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करते रहना चाहिए। गर्भावस्था के दौरान गर्भवती माता के वजन में गर्भकाल के क्रमानुसार 10-12 किलोग्राम तक वजन की वृद्धि होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में सगर्भा के वजन में अप्रत्याशित अधिक वृद्धि नहीं होनी चाहिए। फूड ऐंड न्युट्रिशन बोर्ड के अनुसार सगर्भा स्त्री को प्रतिदिन 300 अतिरिक्त कैलोरी की आवश्यकता पड़ती है।''

''एक शोध में यह पाया गया है कि भारतीय शास्त्रीय संगीत, विशेष रूप से 'कल्याण राग' का गर्भवती महिला और उसके अजन्मे बच्चे पर बहुत सकारात्मक प्रभाव देता हैं। शोधकर्ताओं ने पाया कि अजन्में बच्चे की हरकतों, सजगता और प्रतिक्रिओं पर संगीत द्वारा काफी सुधार संभव होता है। गर्भवती महिला पर भी संगीत का अत्यंत सकारात्मक प्रभाव देखा गया है। संगीत तनाव को दूर करने और मानसिक चिंता से बचने में भी प्रभावी पाया गया।''

''ऐसे कई शोधों में संगीत के प्रयोग से निम्नलिखित सकारात्मक प्रभाव पाए गए:-

बच्चे और मां के संबंध में सुधार
बच्चे की हरकतों में सुधार
बच्चे के श्रवण कौशल में सुधार
बच्चे के व्यक्तित्व का बेहतर विकास

सबसे आश्चर्यजनक तथ्य है कि इन शोधों से पता चला है, कि गर्भस्थ शिशु भी माँ द्वारा सुने गए संगीत को भली भाँति सुन सकता है, और यदि वह संगीत जन्म के बाद भी बच्चे के स्मृति में रहता है, तो उस धुन का उपयोग बच्चे को बहलाने हेतु किया जा सकता है।''

''जहां तक संगीत से संबंधित सावधानियां बरतने की बात है, तो आमतौर पर ऊंची आवाज़ में संगीत सुनना न केवल गर्भवती व शिशु पर बुरा प्रभाव डालता है, बल्कि अन्य लोगों की श्रवण शक्ति व सभी के मानसिक स्वास्थ्य को भी नुकसान पहुंचाता है। इसलिए, कोमल व मधुर संगीत ही सुननी चाहिए। संगीत के स्वर जितने सुगम व

Scanned with CamScanner

कोमल होंगे, गर्भवती व शिशु पर उतना ही सकारात्मक प्रभाव होगा।"

सन्दर्भ सूची :

1. सगर्भावस्था और आपका बालक, लेखक-डॉ0 बाबा लाल न0 पारीख, श्रीमती उषा बहन,
2. जहाँ महिलाओं के लिए डॉक्टर न हों, वॉल्युन्टरी हेल्थ एसोशिएशन ऑफ इंडिया,
3. आयुर्वेदिक विकास, संपादक-नवरत्न करना, अंक-अक्टूबर-दिसम्बर,
4. उपकार यू0जी0सी0नेट/जे0आर0एफ0/स्लेट-गृह विज्ञान (III प्रश्न-पत्र), ले0- श्रीमती गायत्री सिन्हा

Scanned with CamScanner

महाकवि विद्यापति एवं संत लक्ष्मीनाथ गोसांई के गीतों का सामाजिक एवं सांस्कृतिक सरोकार

डॉ रंजना कुमारी

गीत एवं संगीत से मानव जीवन का बहुत ही गहरा सम्बन्ध है। यूं कहें तो सम्पूर्ण सृष्टि ही संगीतमय है। प्रकृति का कण-कण अदृश्य अव्यक्त रूप में स्वर लहरियों की लयात्मक गत्यात्मक रूप से परिपूर्ण है।

गावन मनुष्य के लिए उतना ही स्वाभाविक है जितना बोलना। यह कहना अत्यंत कठिन है कि मनुष्य ने कब से बोलना प्रारंभ किया और कब से गाना प्रारंभ किया। परंतु बहुत समय बीत जाने के पश्चात् गान शब्द का व्यवस्थित रूप निर्धारित हुआ। जब स्वर एवं लय एक व्यवस्थित रूप धारण करते हैं तब कला की उत्पत्ति होती है और इस कला को "संगीत, म्युजिक या मौसिकी" कहा जाता है। [1]

चौदहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी के बीच मिथिला के अभिनव जयदेव नाम से महाकवि विद्यापति "देसिल वयना" के प्रथम प्रगीत सर्जक माने जाते हैं।[2]

अठारहवीं शताब्दी में मिथिला की धरती पर एक और महान संत कवि परमहंस लक्ष्मीनाथ गोसांई का प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने महाकवि विद्यापति के गीतों की पारंपरिकताओं को और आगे बढ़ाते हुए हजारों रचनाएँ की ।

बाबा जी ने लौकिक संस्कार को लेखनी में अविरल धार से इहलौकिक संगीत का रूप दे दिया। इनकी सर्जनाओं में भक्ति की धाराओं के साथ-साथ जीवन के सकल तादात्म्य की व्यापक अभिव्यंजना है। राम गीतावली में चैती में राम जन्मोत्सव से लेकर सिया राम विवाह, परशुराम आगमन, योगी रूप में शिव का आगमन, राधा कृष्ण झूला होली जैसे प्रायः सामाजिक मान्यताओं पर इनकी सर्जना सटीक बैठती है। [3]

महाकवि विद्यापति एवं संत लक्ष्मीनाथ गोसांई, इन दोनों विभूतियों के गीत हमारे समाज के सांस्कृतिक स्वरूप को संस्कारित, संपोषित एवं हमारे बिहार (मिथिला) की संगीत परम्परा को समृद्ध करता है। इनके गीत समाज एवं संस्कृति से इस प्रकार जुड़ा है जो राज दरबार से लेकर झुग्गी झोपड़ियों तक उसी तन्मयता के साथ लोग गाते हैं। कोई भी पर्व त्यौहार एवं जीवन से जुड़ा संस्कार हो, बिना इनके गीत से सम्पन्न नहीं होता है। चाहे खुशी के क्षण हो जिसमें विदाई, विरह आदि) के क्षण, प्रेम हो (श्रृंगार गीत) या फिर पर्व त्यौहार हो हर क्षण के गीत इन दोनों विभूति गीतकारों की प्रमुख विशेषता है और सबसे बड़ी विशेषता है कि हर गीत आध्यात्मिक भावना से ओतप्रोत है, चाहे वह श्रृंगार गीत ही क्यों न हो।

महाकवि विद्यापति- मिथिला (बिहार) में कोई भी शुभ कार्य बिना गोसाउनिक गीत के नहीं शुभारम्भ होते । वे गोसाउनिक गीत हैं -

जय जय भैरवि असुर भयाओनि
पशुपति भामिनी माया।
सहज सुमति वर दिअ हे गोसाउनि
अनुगत गति तुअ पाया। [4]

जन्म के अवसर पर सोहर गाने का रिवाज है, मिथिला में गर्भाधान के समय से ही घर की बड़ी और बुजुर्ग महिलाऐं सोहर गाती हैं -

माघ मास सिरि पंचमि गँजाइलि,
नवम मास हरूआई हे।
अति घन पीड़ा दुख बड़ पाओल,
बनसपती भेलि धाई हे ।[5]

Scanned with CamScanner

भोलेनाथ की नचारी तो इनकी बहुत ही खास है क्योंकि कहा जाता है भगवान शिव इनसे बहुत प्रसन्न थे और वो विद्यापति के साथ रहने के लिए उनकी सेवा यानि नौकर के रूप में उनके घर रहे। इस बात में जितनी भी सत्यता हो परन्तु उनकी नचारी सभी गाते हैं और गाते हुए आनंद विभोर हो जाते हैं।

गे माई जोगिया मोर जगत सुखदायक
दुख ककरहु नहि देल।
एहि जोगिया के भांग भुलओलक
धथुर खोआए धन लेल। [6]

शिव-पार्वती के विवाह संदर्भ में बहुत ही भावपूर्ण गीत है जो मनाईन यानि पार्वती की माँ जब अपने जमाई शिव को देखती हैं तो क्या कहती हैं । महाकवि की रचना-

गे माई चन्दुमुखी सन गौरी हमर छथि।
सूर्य सन करितऊँ जमाई।
नारद के हम की रे बिगाड़लहु
जे बूढ़ आनल जमाई। [7]

मिथिला में रास्ते पर चलते हुए, विध-विधान करने समय जैसे- जनेउ में बांस काटने जाते हैं मंडवा बनाने के लिए, शादी में जल भर कर लाते हैं नदी या तालाब से या फिर मंदिर में पूजा अर्चना करने जाते हैं, उस समय बटगमनी अर्थात् रास्ते पर चलते हुए गाया जानेवाला गीत गाया जाता है।

आसक लता लगाओल सजनी गे,
नैनक नीर पटाय सजनी गे।
से फल आब परिनत भेल सजनी गे,
आँचर तर न समाय सजनी गे। [8]

महाकवि विद्यापति समाज से गहरे रूप से जुड़े थे, उनका दर्द उस समय हो रहे बालविवाह पर उन्होंने ये गीत लिखा जो उस कुप्रथा पर व्यंग के साथ-साथ कारूणिक दृश्य को दर्शाता है।

पिया मोर बालक हम तरूनी गे,
कोन तप चुकलऊं भेलहुं जननी गे।
पिया लेल गोद के चललि बजार,
हटिया के लोग पूछय के लागी तोहार।[9]

ऋतुओं में बसन्त को महाकवि ने रितुराज यानि ऋतुओं का राजा की संज्ञा दी है। बहुत ही सुन्दर चित्रण हैं-

चलु देखए जाउ रितु बसंत
जहाँ कुंद कुसुमक केतिक हसंत।
जहाँ चंदा निरमल भमर कार
जहाँ रयनि उजागर दिन अन्धार।[10]

वर्षा ऋतु में झूमर गाते हैं, कजरी गाते हैं, बारहमासा गाते हैं। झूमर में सखियों की ठिठोली रहती है या प्रियतमा अपने प्रियतम से मान मनुहार करती है या फिर ननद-भाभी के बीच हँसी-मजाक, नोक-झोक आदि आदि।

यहाँ महाकवि ने प्रियतमा को प्रियतम से मान-मनुहार की बात कही है। उनकी नायक एवं नायिका राधा कृष्ण हैं इसलिए उनको ही गीत में कहा है-

सुनु सुनु रसिया आव नहि बनाउ विपिन बसिया।
बेरि बेरि चरणारविन्द गहि, सदा रहब बनिअ दसिया । [11]

वहीं उन्होंने 'बारहमासा' में बारहो महीने होने वाले प्रकृति में बदलाव, भाव में बदलाव, दैनिक जीवन में होने वाले दुःख - सुःख की सुन्दर विवेचना की है।

मोर प्रियतम सखि गेल दूर देस
जौवन दए गेल साल सनेस। ।
मास अषाढ़ उनत नव मेघ।
पिया विसलेख रहओं निरधेघ ।। [12]

जल ही जीवन है, जल और उसमें भी गंगा नदी का जल । भारतवर्ष में गंगा नदी को माँ की संज्ञा दी गई है। गंगा कितनी पवित्र और जीवन दायिनी है कि जन्मों-जन्म का पाप मिट जाता है। महाकवि कहते हैं कि क्या करूँगा जप-तप, योग-ध्यान करके। गंगा में एक बार स्नान से जनम सफल हो जाता है। इसे समदाउन के तरह लोग गाते हैं क्योंकि महाकवि विद्यापति के अंतिम क्षण का गीत है जब वो इस नश्वर शरीर से विदा हो रहे थे।

बड़ सुख सार पाओल तुअ तीरे।
छाड़इते निकट नयन बह नीरे।।
कि करब जप-तप-योग-धेयाने।
जनम कृतारथ एकहि सनाने। [13]

बच्चे के जन्म पर सोहर गाते हैं । गोसांई जी

Scanned with CamScanner

का हर भजन, हर गीत भगवान के ही नाम से हैं इसमें वो कहते हैं-

जै जै जै जग होत जहाँ लगि लोग री
जनमे दीन दयालु मिटे सब सोग री ।।[14]

वहीं बधाई देते हुए बधैया गीत में लिखा है-

बाजत आजु बधाई
यशोदा जी को भाग बड़ो है,
पायो है पुत्र, कन्हाई
यशोदा जी को भाग बड़ो है ।। [15]

सोलह संस्कारों में जनेउ एक संस्कार है जिसमें कहते हैं-

आज जनौआ होत राम के
देत हकार नऊनियाँ घर घर
नगर शहर अरू गाम के ।। [16]

विवाह संस्कारों में गौरी पूजन का गीत है-

गौरी पूजे जानकी जनक घर में।
करि असनान चौका तब पुरेउ
धनु उठाय सिय बायें कर में।। [17]

विवाह में सिन्दुरदान का बड़ा महत्व है। सिन्दुरदान गीत में इन्होंने लिखा है-

सोहत सिर सिन्दुर सुहावन
जिमि विद्युत राजित घन सावन ।। [18]

भोलेदानी नचारी में उन्होंने कहा है-

कहीं देखे री माई मेरे भोला को।
अबही रूठि गए शिव घर से
देर भई भंग गोला को ।।[19]

होली पर्व हर्षोल्लास का पर्व है, जिसमें हास्य और श्रृंगार रस की प्रधानता रहती है। गोसांई जी ने लिखा है-

मुरलीधर को रंग डारन दे।
औसर नाही पैहों सखि ऐसो,
पीताम्बर पट फारन दे ।। [20]

चैत के महीने में 'चैती' गाई जाती है जिसमें विरह श्रृंगार भाव रहते हैं। गोस्वामी जी ने कहा है-

कमल नयन मनमोहन रामा तेजि गेल।
भवन न भावे दिवस निशि हरि बिनु,
प्राण तजब यमुना धसि रामा।। [21]

सुबह- सुबह भगवान या ईश्वर की अराधना में मिथिला में 'पराती' गाते हैं गाने के बोल में सुबह उठ के क्या करना चाहिए ये निर्देश देते हुए लिखते है-

उठ भोरे यह काम करो नर
उठ भोरे यह काम करो।
गुरू सुमिरन हरि भजन ध्यान धरि
पद सरोज पर सीस धरो ।। [22]

बारहो मास का वर्णन करते हुए 'बारहामासा' गीत में कहते हैं-

नाहक जाये बीत समैया।
बालापन बैशाख मास में
बाबा भैया बोलि गमैया ।। [23]

गंगा नदी का महात्मय बताते हुए गंगा महिमा में गोसांई जी ने कहा है-

जय गंगाजी जय सुरसरिता
जय सुरसरि सुखदाई।
सुमिरत सकल सिद्धि सज्जन को
दुर्जन जन तरि जाई।। [24]

ऋतु वर्णन में बसंत ऋतु के लिए कहा है-

अजहुँ न आये उधो मोहन कन्त
बीते शिशिर बिसरि गये मोहन
करे आई क्या आव वसन्त।। [25]

शिशिर ऋतु के लिए गोसांई जी ने कहा है-

अभी जाओ उधो मधुपुर गाँव
आये शिशिर सुखद सबही को
सो बुझाय माधव ले आव ।126

हेमन्त ऋतु में गोसांई जी के गीत है-

अबहि जाओ उधो ले पांती
ऐसो जाई गोपाल से कहियो
युग सम बीतत हेमन्तहि राति।। [27]

वर्षा ऋतु का वर्णन इस प्रकार है-

पावस ऋतु रिपु आये रे
कन्हैया नहि आये
सावन सकल समाज संग लिए
बरखा बनि-बनि आये ।। [28]

Scanned with CamScanner

इस प्रकार संत लक्ष्मीनाथ गोसांई के गीत जीवन से, समाज से, प्रकृति से गहरा रूप से जुड़ा है।

जन्म हुआ है तो मृत्यु निचित है इसलिए वे अध्यात्म की ओर मनुष्य को उन्मुख करते हुए आत्मोपदेश देते हुए कहते है-

तन यह कागज के पुतना, मति कोउ करे गुमाना,
जैसे नोन गले पानी में, जल बिच बून्द बिलाना
तैसे बिलग जात यह काया, फिर पाछे पछताना।।[29]

जीवन का यही सार है कि जो इस धरती पर आया है उसे फिर जाना है इसलिए अपने जीवन को अच्छे कामों में लगायें और अपने पर गुमान न करें, ऐसा कहना है गीत के माध्यम से संत लक्ष्मीनाथ गोसांई जी का ।

महाकवि विद्यापति एवं संत लक्ष्मीनाथ गोस्वामी के गीतों का सामाजिक एवं सांस्कृतिक सरोकार के अध्यवन में हमने पाया है कि इनके गीत जन्म से लेकर मृत्यु तक के संस्कार, जीवन का सुख-दुःख, हर्षोल्लास - विरह हर क्षण को समेटते हुए आध्यात्म की ओर अग्रसर करता है। यह संस्कृति से इस तरह जुड़ा है कि समाज के हर वर्ग के लोग कोई भेद-भाव नहीं रखते हुए इनके गीतों को मुक्त कंठ से आनन्दित होकर गाते हैं और जब तक सृष्टि में मानव रहेंगे इनके गीत गाते रहेंगे और आनन्द के साथ-साथ जीवन को कैसे जीया जाये सीखते भी रहेंगे। अतः हम कह सकते हैं कि महाकवि विद्यापति एवं संत लक्ष्मीनाथ गोसांई के गीत सामाजिक सांस्कृतिक सरोकार रखते हुए जीवन के लिए प्रेरणादायी है।

संदर्भ सूची

1. विकिपिडिया : नेट
2. मैथिली साहित्यक इतिहास : साहित्य अकादमी : डॉ जयकांत मिश्र : पृष्ठ सं: 75
3. श्रीमद गोस्वामी लक्ष्मीनाथ परमहंस विचरित गीतावली : परमहंस लक्ष्मीनाथ गोस्वामी समिति जमशेदपुर पृष्ठ 42-43 में पंडित छेदी झा द्विजवर लिखित भूमिका
4. विद्यापति की पदावली, श्री बेनीपुरी, पृ0सं0-57, गीत सं0- 3
5. वही -पृ0सं0-285, गीत सं0- 174
6. वही -पृ0सं0-363, गीत सं0- 246
7. वही -पृ0सं0-310, गीत सं0- 195
8. वही -पृ0सं0-381,382, गीत सं0- 363
9. वही -पृ0सं0-296, गीत सं0- 182
10. वही -पृ0सं0-347, गीत सं0- 227
11. वही -पृ0सं0-323, गीत सं0- 208
12. वही -पृ0सं0-366, गीत सं0- 250
13. वही -पृ0सं0-370,371, गीत सं0- 255
14. गीतावली, परमहंस लक्ष्मीनाथ समिति, जमशेदपुर -पृ0सं0-405, गीत सं0- 710
15. वही -पृ0सं0-310, गीत सं0- 146
16. वही -पृ0सं0-123, गीत सं0- 133
17. वही -पृ0सं0-59, गीत सं0- 08
18. वही -पृ0सं0-64, गीत सं0- 19
19. वही -पृ0सं0-71,371, गीत सं0- 38
20. वही -पृ0सं0-411, गीत सं0- 721
21. वही -पृ0सं0-185, गीत सं0- 260
22. वही -पृ0सं0-218, गीत सं0- 329
23. वही -पृ0सं0-361, गीत सं0- 620
24. वही -पृ0सं0-379, गीत सं0- 656
25. वही -पृ0सं0-311, गीत सं0- 520
26. वही -पृ0सं0-255, गीत सं0- 405
27. वही -पृ0सं0-254, गीत सं0- 404
28. वही -पृ0सं0-254, गीत सं0- 403
29. वही - पृ0सं0-401, गीत सं0- 701

Scanned with CamScanner

वैश्विक बाजारवाद में मैथिली संगीत

डॉ0 विजय कुमार झा

वैश्वीकरण के वर्तमान दौर में नव बाजारवाद के साथ आर्थिक लाभ प्राप्ति हेतु नित नये रास्तों की खोज के संग प्रचलित व्यवस्था में उपलब्ध संसाधनों का प्रयोग कर नये उपभोक्ताओं के वर्ग तक पहुंचने हेतु वर्तमान बाजार की पसंद के अनुकूल सेवाएं एवं वस्तुएं उपलब्ध कराने की दौड़ लगी हुई है। बाजारवाद की इस अंधी दौड़ में सर्वमान्य धारण के अनुकूल शांत एवं सात्विक वैचारिक संस्कृति वाले मिथिला भाषी क्षेत्र के निवासी, कथित रूप से मिथिला वासी भी अब वंचित नहीं रह सके हैं।

मिथिला वासियों द्वारा वैश्विक उपभोक्ता वर्ग की माँग से अनुकूलता रखते हुए अपनी विशिष्टता व विशेषज्ञता का उपयोग कर आर्थिक उन्नति की राह तलाशी जा रहीं है। इस प्रक्रिया में मिथिला क्षेत्र की विशिष्ट पहचान एवं परंपरिक कार्यों द्वारा स्थानीय निवासी को वैश्विक पहुंच व पहचान मिल रही है।

मिथिला का इतिहास उपलब्ध पौराणिक साक्ष्यों के अनुसार राजा मिथि से आरंभ है। राजा मिथि के 54 वें वंशज राजा जनक अर्थात राजा विदेह हुए। राजा विदेह की पुत्री जानकी/वैदेही/सीता हुई, जिन्हें प्रचलित व्यवहार में माँ सीता के नाम से जाना जाता है। विश्व प्रसिद्ध प्राचीनतम उपलब्ध महाकाव्य के रूप में मान्य 'रामायण' जिसकी रचना 'महर्षि वाल्मीकि' द्वारा की गई है, में सीता एवं उनके पति राम के संपूर्ण जीवन वृत्त का काव्यात्मक वर्णन किया गया है। इस ग्रंथ में उल्लेखित तथ्यों के आधार पर किये गये ज्योतिषीय गणना एवं वर्तमान में कंप्यूटर प्रमाण द्वारा सत्यापित तथ्य के आधार पर राम का जन्मदिवस 04 दिसंबर 7,323 ई0पूर्व (मराठी भाषा में लिखि गई 'वास्तव रामायण', लेखक- डॉ0 पी0वी0 कार्तिक द्वारा मान्य किया गया) है। इस में वर्तमान में चल रहे वर्ष 2020 को जोड़ देने पर राम का जन्म काल 9,343 (7323 + 2020) वर्ष पूर्व माना जायेगा। पुनः राजा जनक यदि राजा मिथि के 54 वें वंशज थे और एक वंश का न्यूनतम सामान्य जीवन काल 30 वर्ष माना जाय तो राजा मिथि का जीवनकाल राजा जनक से 1620(54 ' 30) वर्ष पूर्व अर्थात वर्तमान समय से 10,963 (9343 + 1620) वर्ष पूर्व माना जायेगा। अर्थात मिथिला का इतिहास वर्ष 2020 से 10,963 वर्ष पूर्व से मान्य होगा।

मिथिला के विशिष्ट पहचान वाले विभिन्न पारंपरिक कार्य यथा-

क) हस्त कला-

(1) मूर्ति कला- परंपरागत, कलात्मक एवं व्यावसायिक मूर्ति निर्माण।

(2) चित्र कला- परंपरागत एवं कलात्मक, चित्रांकण व पारंपरिक रंग संयोजन के अतिरिक्त आधुनिक रंग प्रयोग द्वारा परंपरागत, कलात्मक, व्यावसायिक के साथ आधुनिक चित्र निर्माण।

(3) हस्तशिल्प कला- पारंपरिक व व्यावसायिक रूप से सिक्की, जूट, तार-पत्र बाँस सहित अन्य प्राकृतिक वस्तुओं द्वारा निर्मित उपयोगी वस्तुएं एवं सजावट के समान।

ख) प्रदर्श कला-

(1) गायन/संगीत-पारंपरिक व आधुनिक गायन एवं संगीत में भक्ति, श्रृंगार, लोरी, विरह-वेदना लोक संगीत आदि।

व्याख्याता, वाणिज्य संकाय, ए0एम0एस0 कॉलेज, बेनीपट्टी, दरभंगा

Scanned with CamScanner

(2) वादन- पारंपरिक व आधुनिक वाद्य यंत्रों द्वारा प्रदर्शन।

(3) नृत्य- पारंपरिक लोकनृत्य सहित आधुनिक नृत्य कला।

मिथिला में प्रचलित उपरोक्त विभिन्न प्रचलित कार्यों को मिथिला वासी अपनी योग्यता एवं प्रसिद्धि के अनुकूल आय प्राप्ति के साधन के रूप में प्रयोग कर व्यक्तिगत आर्थिक उन्नति के संग सामाजिक उन्नति में संलग्न हो रहे हैं।

जिस प्रकार मिथिला चिकला की प्रसिद्धि उसकी निर्माण शैली की सुगमता के संग आकर्षक कथात्मक चित्रांकण व दृश्यात्मक रूप से नयनाभिराम रंग संयोजन के परिणाम स्वरूप वैश्विक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है, उसी प्रकार मैथिली संगीत की प्रसिद्धि इसकी कोमल सुमधुरता के संग श्रोता की अंतरात्मा तक पहुंचने वाली तान एक अलग पहचान बनाने की ओर अग्रसर है। वर्तमान बाजार की मांग के अनुकूल मैथिली संगीत परिपक्व अवस्था में ढल नहीं सकी है।

मैथिली संगीत की मूल भावना वर्तमान में भी अंतरात्मा से निकली लय व ताल पर टिकी है। जबकि नव बाजारवाद के दौड़ में प्रचलित नृत्य संगीत का स्वरूप उच्च स्वर की कान-फोड़ू वाद्ययंत्रों की आवाज के संग तुकबंदी और स्त्री सौन्दर्य का भौड़ा प्रदर्शन अधारित नृत्य को अंगीकार कर आय प्राप्ति का एक नया व अलग विस्तृत संसाधन युक्त बाजार बना दिया गया है। जिसमें धुन व संगीत का आधार अश्लीलता प्रदर्शन द्वारा अधिकाधिक आय अधारित बाजार है।

मैथिली संगीत के उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार 17वीं शताब्दी के मध्य में विद्यापति और गोविंद दास सदृश्य अनेकों विद्वानों ने अपनी योग्यता का प्रदर्शन भक्ति गीत सदृश्य वैष्णव संतों द्वारा लिखे गए गाये जाने योग्य भक्ति काव्य की रचना की। प्रसिद्ध लेखक 'मैपाती उपाध्याय' ने मैथिली में "पारिजातहरण" नामक प्रसिद्ध नाटक लिखा। पेशेवर नाटक मंडली में ज्यादातर श्रमिक वर्गों के व्यक्ति क्रियाशील रहते थे, जिनकी कीर्तनीयाँ के नाम से प्रसिद्धि होती है। भजन या भक्ति गीतों के गायक समाज के सार्वजनिक समारोहों और रईसों के निजी आवासों पर नाटक करते हैं। संगीत की एक महत्वपूर्ण ग्रंथ रागतरंगिणी के लेखक लोचन (सी। 1575-सी। 1660) ने अपने ग्रंथ में मिथिला में प्रचलित राग ताल और गीत का वर्णन किया है।

मिथिला का क्षेत्र भाषाई विस्तार एवं आत्मीय संबंधी के विस्तारवाद में भारत और नेपाल के मैथिली भाषियों को अंतर्राष्ट्रीय सीमा रेखा की वैधानिक दूरी का त्याग कर व्यावहारिक रूप में दोनों ओर से एकजुट करता है। स्थानीय वास्तविक सच्चाई है कि वे एक सामान इतिहास, भाषा, संस्कृति, जातीयता के संग सभ्यता व सोच को साझा करते हैं, और इसी के परिणाम-स्वरूप वे एकीकृत मिथिला का हिस्सा समग्रता से महसूस करते हैं। व्यावहारिक रूप से अंतर्राष्ट्रीय सीमा के एक तरफ घटित होने वाली सकारात्मक घटनाओं का प्रभाव को दूसरी तरफ स्पष्ट रूप से उल्लास पूर्वक मनाया जाता है, साथ ही किसी एक ओर की नकारात्मक घटनाओं का शोक भी दूसरी ओर स्पष्ट परिलक्षित होता है।

पारंपरिक मैथिली संगीत में यह विशेषता स्पष्ट रूप से दिखती है। मैथिली संगीत की आत्मा संकुचित क्षेत्रीयतावाद से उपर की रही है साथ ही समग्रता में व्यक्तिवाद की सोच के स्थान पर "सर्व जन हिताय" व "सर्व जन सुखाय" के लक्ष्य पर आधारित रहा है।

मैथिली संगीत भारतीय उपमहाद्वीप क्षेत्र में सर्वाधिक प्राचीन पद्धति के संगीतों में एक होने के साथ मिथिला क्षेत्र से उद्भव हुआ और यह क्षेत्र वर्तमान में भारत और नेपाल दो देशों के बीच विभाजित है। मैथिली संगीत के अस्तित्व में आने का निश्चित समय काल का आधिकारिक प्रमाण लिखित रूप में उपलब्ध नहीं है और यह शायद कोई जानता भी नहीं है। संभवतः इसके पीछे मिथिला के इतिहास की प्राचीनता है। किंतु इसकी आयु दर्शाती है कि इसने भारत और नेपाल दोनों ही देशों में अन्य संगीतों को पल्लवित व पुष्पित होने में आवश्यक सहायता पहुंचाई। यद्यपि मैथिली संगीत सामान्यतः शास्त्रीय वाद्ययंत्रों द्वारा ही गया और बजाया जाता है। वर्तमान में इसे आधुनिक बनाने का प्रयास किया जा रहा है और अब यह विभिन्न आधुनिक उपकरणों के प्रयोग से लोकप्रियता बढ़ाने के प्रयास

Scanned with CamScanner

के संग वास्तविक कर्णप्रियता को बनाये रखने की दिशा में क्रियाशील है। मैथिली संगीत शैली के महत्वपूर्ण योगदान कर्ता के रूप में प्रमुख रूप से महाकवि विद्यापति ठाकुर (भक्ति संगीत), उदित नारायण झा (फिल्मी संगीत), शारदा सिन्हा (लोकसंगीत, आस्था गीत) इत्यादि प्रसिद्ध चेहरे हैं। नवोदित बाल कलाकार के रूप में प्रसिद्ध मैथिली ठाकुर प्रसिद्ध हो रही हैं। मैथिली संगीत स्थानीय जन मानस में लोकगीत के रूप में एक साधारण व्यक्ति के जीवन में विभिन्न घटनाओं से जुड़े सन्दर्भ का द्योतक हैं।

संदर्भ सूची-

1. एस्ट्रोनोमीकल डेटिंग ऑफ रामायण, डॉ0 पी0 भी0 वर्तक
2. विकिपिडिया (मिथिला)
3. मैथिली भक्ति काव्य में संगीत, डॉ0 लालति कुमारी

Scanned with CamScanner

वर्षाकालीन ऋतु गीतों का सांगीतिक सौंदर्य

चन्द्रिका कुमारी

लययुक्त नाद अथवा स्वर के माध्यम से किसी भाव विशेष का कलात्मक अभिव्यंजन संगीत कहलाता है, अतः संगीत में गीत का सौदर्य शब्दों में ही नहीं अपितु उससे भी अधिक स्वर में निहित हैं। 'सौदर्य' कला का मनोरम पक्ष है। प्रायः वर्षाकालीन लोकगीत छंदबद्ध होते है, उनमें संगीत है, स्वर-प्रवाह है तथा शब्दों का मधुर विन्यास है। स्वर माधुर जितनी अद्‌भूत है, उसकी ताल पद्धति उतना ही विचित्र। प्राणी मात्र में चेष्टा और ध्वनि में अभिव्यंजना की दृष्टि से चेष्टा सर्वोपरि है, क्योंकि उसे किसी धर्म, जाति अथवा देश की अपेक्षा नहीं होती, चेष्टा को यदि नाद की सहायता मिल जाए तो उसका प्रभाव बहुत व्यापक हो जाता है।

मानव मन में उद्‌भूत असंख्यभावों के अंतर्गत सुख तथा दुःख यह दो प्रमुख भाव हैं। इन मनोभाव का स्वरूप अमूर्त होता है। इन भावों को मूर्त रूप देने के या उनको अभिव्यक्त करने के प्रयास ने ही विभिन्न कलाओं को जन्म दिया है। जिनके अंतर्गत, चित्रकला, मूर्तिकला, वास्तुकला, काव्य, नृत्य अभिनय आदि उल्लेखनीय है। कलाओं की उत्पति में आनंद की लोकगीतों में नाद सौंदर्य की खोज करनी है तथा इसकी संगीतत्मकता की ओर ध्यान देना है। परंतु खोज के अंतर्गत विषय को विस्तार का उचित भाग देना भी प्रसंगवश हमारा दायित्व बनता है।

अतः ऐसे विशिष्ट माध्यम का चयन करने का प्रयास किया जा रहा है जिसमें सभी सौंदर्य बोधक माध्यम सहज समाहित हो जाए। 'पद' लोकगीतों का प्रधान विषय है- इसमें भाषा का सौष्ठव, मनोरंजन की विशिष्टता और लोक मंगल की भावना- जो सौंदर्य का चरण और सर्वश्रेष्ठ पक्ष है निहित है।

वास्तव में लोक संगीत में सौंदर्य का पता लगाने के लिए तो संगीतकार ही सक्षम मनीषी है, परंतु लोकधुन की सुंदरता के उद्‌घाटन के लिए हमें राग-संगीत के सीमित सोचों एवं चौखटों से बाहर आना पड़ेगा तभी हमें वर्षाकालीन गीतों के परम मुग्धकारी अलौकिक आनंद की सलक मिल सकेगी।

संगीताचार्य कुमार गंधर्व के अनुसार लोक संगीत निसर्ग में स्वयं स्फूर्ति से खिला हुआ नवरस संपन्न सहस्रदल कमल है जिसका प्रत्येक पंखुड़ी में राग संगीत के बाल रूप के दर्शन होते हैं।

वर्षाकालीन लोकगीतों के सौंदर्य जानने से पहले संक्षेप में यह जानना आवश्यक है कि सौंदर्य का किसी भी कला में क्या स्थान है? कलात्मक उपयोगिता में उसकी क्या भूमिका है? निश्चित और निरूपित हुई सौंदर्य बोध मनुष्य की एक भावमूलक सहज प्रवृति है। मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक आधार पर सौंदर्य-सम्मोहन की यह प्रवृत्ति, परितृष्टि, तृप्तता एवं आनंद ग्रहण आदि से संबोधित रहता है।

सूक्ष्म रूप से देखा जाय तो धर्म, दर्शन और कला इन तीनों की मूल धारणा सुख निष्ठ है। मनुष्य दुःख के प्रति जन्म से ही भयभीत रहता है और यही कारण है वह सुख के उपकरण बटोरने में लगा रहता है। सुख के इन उपकरणों को वह आनंद वृद्धि और उपलब्धि के साधनों के अतिरिक्त मृत्यु तक के निवारक तत्वों के रूप में ग्रहण करता है- इस प्रकार सौंदर्य और आनंद मनुष्य के मानसिक अंतराल के अन्तनिष्ट घरातल है जो परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों ही प्रकार के सुख और दुःख के उपकरणों

शोधर छात्रा, वि0वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0 ना0 मि0 वि0 वि0, दरभंगा

Scanned with CamScanner

पर आधारित रहते हैं। सौंदर्य बोध तो वस्तुतः एक मनोविकार के रूप में मनुष्य के मानसिक अंतराल में उपस्थित रहता है।

ललित कलाओं को हमारे विचार से सुखा भिमूलक उपकरणों के रूप में ही मानना चाहिए जिनके मूर्त तथा अमूर्त आधार मनुष्यों के बाह्य तथा अभयान्तर के परस्पर समल्लित उसके रूप में अभिव्यंजित होते है।

मनुष्य की चेतना जिस प्रकार सृष्टि का विभिन्न वस्तुओं के भावचित्र अंकित करती चली आती है, उसी द्वारा उसमें विभिन्न प्रभावों को व्यक्त करने की शक्ति उत्पन्न होती चली आती है- यह शक्ति सभी में होती हैं। वस्तुतः उसकी अन्तरात्मा बाह्य-साक्ष्य को जिस रूप में ग्रहण करती है, लगभग उसी रूप में उसे अभिव्यक्त भी करना चाहती है। इस प्रकार बटोरे हुए दुःख सुख आदि के अनुभव व्यक्त करना उसके लिए आवश्यक होता है। बाह्य-सृष्टि के चित्र अदृश्य रूप में मनः पटल पर अंकित होते हैं अन्तरात्मा गोचर तथा ग्राह्य रूप में व्यक्त कर देती है- यही अभिव्यंजन है और व्यंजन के इसी विद्या को ही 'कला' कहते हैं- इस प्रकार संगीत-कला के उन्मेष का आधार भी यही है। इसका अर्थ यह नहीं है कि समस्त अभिव्यंजना कला है। इसका कारण यह है कि अभिव्यंजना में कलात्मक आधार के साथ दार्शनिक तत्व भी विद्यमान रहते हैं और इसी कारण मनुष्य के मानसिक चक्र ने अनेक वस्तुओं, आविष्कारों तथा कलारूपों का जन्म दिया है अतः संगीत का नाद-निर्भर धन्यात्मक सौंदर्य कर्णेन्द्रिय के लिए जिस प्रकार सुख दायक होता है, उस अर्थ में काव्य-पाठ का श्रवण नहीं है। ये शब्द हमारा आशय स्पष्ट कर देते है। वस्तुतः हमारे रस, ध्वनि तथा अलंकार आदि संप्रदायों में सैद्धांतिक आधार भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सौन्दर्य- नुभूमिगत आनंद ग्राह्यता को व्यक्त करते हैं।

भारतीय साहित्य परंपराएँ और कलात्मक प्रयाएँ जब यूरोपीय सभ्यता और चिंतन में तब कुछ प्रयाओं को नए ढंग से चिंतन मिला। 'सत्य' शिवं, सुंदरम- यह एक नयी उक्ति प्रतीत था यूँ कहें कि पुराने कलेवर को नया सज्जा से विभूषित किया गया है। कुछ चिंतको का विचार है कि इस दृष्टि से कला का मूल्यांकन करने का यह एक नई परम्परा है, जो पाश्चात्य चिंतन की देन है- इस सर्वांग समृद्ध साहित्यक एवं कलात्मक स्वरूप को स्वामिनी भारतीयता के लिए कुछ भी नया नहीं है केवल कहने के ढ़ंग नये हैं।

'सत्यं वदं धर्मम चरं'- सत्य की यह विशेषता अनादि कालीन है। साहित स्यभावा सहितम- जिसमें सभी के हित की भावना हो- वहीं साहित्य हैं- वहीं कला है। अलौकिक आंनद देने वाला सभी कलाओं का सार रस के सुंदरम का अति प्राचीन पर्याय है- सहस्त्रों वर्ष पुराना है। अभिप्राय यह है कि कुछ भी नया नहीं केवल कहने का ढंग नया है। 'सौंदर्य' सुन्दर की भाव-वाचक संज्ञा है। 'सुंदर' शब्द ललित, सौष्ठव, रूपवान सुरूपता, लावण्य आदि पुराने भाव-वाचक शब्दों का नया नाम है- जिसे वेद आदि प्राचीन साहित्य में 'ललित' नाम है- जिसे वेद आदि प्राचीन साहित्य में 'ललित' कहा गया है। बाद के ग्रंथों में उसे सुंदर की संज्ञा से संबोधित किया है। सौंदर्य या सुंदरम् का अभिप्राय है- जिससे चित्र आकृष्ट हो, जो मन को आह्लादित करें। इसके अतिरिक्त चाहे कितनी भी परिभाषाएँ बनाया जाय सभी का ध्येय यही होगा। सत्यं शिवं सुंदरम् में यह मान्यता है कि साहित्य के अंगों की एक नई पद्धति से मूल्यांकन करना सर्वया नूतन दृष्टिकोण पाश्चात्य साहित्य की देन है इसमें कोई संदेह नहीं कि वर्तमान युग के समीक्षकों ने इसके विवेचन में बहुत अधिक रूचि दिखाई। न जाने क्यूं अधिकांश विद्वानों का ध्यान प्राचीनता की ओर नहीं गया। आश्चर्य की बात यह है इसको नया कहने वाले समीक्षक रस-सिद्धांत से भली-भाँति परिचित है।

सौंदर्य अंग्रेजी के 'एस्थियेटिक' शब्द का पर्यायवाची है, जिसकी उत्पाति यूनानी शब्द ऐस्थेसिस' से हुई है। ऐस्थसिस शब्द का अर्थ है- इन्द्रियों का अनुभव आज 'एस्थेटिक का अर्थ सौंदर्य दर्शन के रूप में लिया जाता है तथा सौन्दर्य-बोधक के रूप में प्रयुक्त होते है। व्याकरण की दृष्टि से 'सु' का अर्थ है- अच्छी प्रकार, 'उन्द' का अर्थ है- आर्द्र करना और 'अस' का कर्तृवाचक प्रत्यय अर्थात वह वस्तु जो मानव हृदय को भीतर तक गीला कर दे, संवोदित कर दे, वही सौंदर्य है। यहाँ विषय को गहराई में न

Scanned with CamScanner

ले जाते हुए संगीत और सौंदर्य के संबंध में ही परिभाषित किया जा रहा हैं।

पाश्चात्य तथा भारतीय विचारकों ने सौंदर्य की विविध परिभाएँ दी है। कुछ विचारकों के अनुसार सौंदर्य अलौकिक सत्ता के आश्रित है तथा शिवरूप है, कुछ लोग सत्य में सौंदर्य देखते हैं। उनके अनुसार जा सत्य है वहीं शिव है और जो शिव है वही सुंदर है किंतु यहाँ भारतीय दर्शन के तर्क वितर्क में न पड़कर सौंदर्य को सहज तथा सरल एवं सुखकर परिभाषा देना अपेक्षित है।

भारतीय विद्वानों ने सौंदर्य की विवेचना स्वतंत्र रूप से नहीं की। ऋग्वेद से इसकी चर्चा प्राप्त होती है। सौंदर्य शब्द के लिए सुंदरता, सुंदर प्रयोग नहीं मिला। इस ग्रंथ के सौंदर्य के लिए आनंद, मोद, अमोद, मुद, प्रमुद, प्रिय, स्वाद आदि ग्रंथ में प्रयुक्त हुए है। जो किसी विशेष अनुभूति की ओर इंगित करते हैं। यह अनुभूति आनंदानुभूति है, जिसे सौन्दर्यानुभूति के अर्थ माना जाता है।

उपनिषद् में ब्रह्म को 'रसों वैःसः' कहकर उसकी रसमयता का प्रतिपादन किया गया है। रसमय होने का अर्थ है आनंदमय होना और आनंद सौंदर्य का नित्य लक्ष्य है। श्री चार, कल्याण, शुभ्र आदि शब्द भी सौंदर्य के पर्यायवाची के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। वैद के सौंदर्य तत्व को 'स्वस्ति' की संज्ञा दी गई है। स्वस्ति का अर्थ है 'सत्य सुंदर' अर्थात सुंदर सत्य।

वैदिक जीवन की व्यापकता में सौंदर्य और धर्म की भावनाएँ अलग-अलग नहीं रह सकती थी। दिव्य शक्ति और सौंदर्य की उपासना ही ऋग्वैदिक जीवन की मूल प्रेरणा थी। भारतीय सौंदर्य चेतना में इच्छात्मिक दृष्टि वैदिक काल की देन है। सच्चा सौंदर्य समाधि-स्थ साधकों के निकट ही प्रत्यक्ष गोचर होता है, लोलुप मानियों के निकट नहीं।

सुंदर परिभाषा की सीमा से इसलिए बाहर है कि वह हमारी सरलतम और निकटतम अनुभूति है।

"सभी लोकगीतों में सामान्यतः यह बात मिलती है कि शब्द गौण होते हैं लय (Thumb) से और कभी-कभी यह कहा जाता है कि यह लय ही है जिसका सर्वापेक्षा अधिक महत्व था। यह विश्वास सत्य से बहुत दूर है। सच्चाई तो यह है कि कंठ से कंठ पर उतरते हुए शब्दों ने क्रमशः लघु विकारों और संशोधनों की झेला हे। संगीत अधिक यथावत् रूप में स्मृत रहा है क्योंकि लोकगायक के लिए गीत का संपूर्ण अर्थ आवैय, संपूवत (Emotional) होता है उतना नैसर्गिक (Logical) वर्षाकालीन गीतों में प्रयुक्त कतिपय स्वर समूह का अगर हम सावधानीपूर्वक अनुशीलन करते हैं तो इसमें कतिपय रागों के स्वर मिलते है, यथा- ईमन, भैरवी, भैरव, काफी, पीलू, बहार, दरबारी, कान्हड़ा आदि। परंतु इसमें बंदिशों का बंधन नहीं है या किसी भी ताल विशेष के साथ निबद्धता भी नहीं। इन सागत्मक गीतों में प्रयुक्त होने वाले ताल-तीन ताल, रूपक, कहरवा, दादरा झपताल आदि है।

राग संगीत परिश्रम साध्य है। जबकि वर्षाकालीन गीत श्रवण मात्र से ही सहज साध्य होता है। शास्त्रीय संगीत व्यक्ति निष्ठता अर्थात व्यक्ति की प्रतिभा पर आधारित होता है, वर्षाकालीन गीतों में यदि साधना शृंगार मिल जाय तो वह और भी चमत्कारिक बन जाता है, यही कारण है कि आज कजरी को उपशास्त्रीय संगीत का दर्जा प्रदत्त है। दूसरी और वर्षाकालीन लोक संगीत सामाजिक विश्वासों, रीति-रिवाजों द्वारा अति भावित होता है। वर्षाकालीन गीतों में उलट चाल बदलने की जिस्त (off beat) कहा जाता है, टेक की पुनरावृति आदि की क्रिया बड़ी मनोरंजक होता है, जुगल बंदी, सामूहिक गायन रहता है तथा चमोंत्कर्ष करने का अपना एक विशेष दत्रंग रहता है। भोले-भोले लोक गीतकार ने तो लय का ज्ञान रखते न ही गायन का विशिष्ठ ढ़ंग परंतु फिर भी वह जन रंजन कही अधिक करते है। स्वाभाविक, अलंकार यहाँ के लोक जीवन में संचित है। गीतों में धन्वात्मकता शब्दों का प्रयोग स्वरों का माधुर्य, मींड गमक आदि स्वतः ही इन गीतों में विशिष्ट रसोत्पत्तिकारक है।

इस प्रकार वर्षाकालीन गीतों का सांगीतिक सौंदर्य संगीत की सभी उत्कृष्ट सौंदर्य, लक्षणों को समन्वय करते हुए अलौकिक अनुभूति और अपूर्व आनंद की अनुभूति कराने में सर्वथा समर्थ है। उपर्युक्त विश्लेषणात्मक विवरण से इसकी स्पष्ट खोज की जा सकती है।

Scanned with CamScanner

शास्त्रीय संगीत शिक्षण एवं रोजगार

डॉ0 संजीव कुमार

संगीत ईश्वरीय सुंदरतम सृष्टि की मधुरतम अभिव्यक्ति है। शास्त्रीय संगीत व्यापक शब्द ब्रह्म अथवा नाद ब्रह्म की अनुभूति और अभिव्यक्ति की विद्या है। संगीत आनंद प्रमोद की अपेक्षा मोक्ष का सहज मार्ग है। यही दृष्टि भेद भारतीय संगीतज्ञ को वैज्ञानिकों तथा अन्य देशों के संगीत से अलग करता है। हमारा देश भारत अध्यात्म प्रधान देश है। भारतीय संस्कृति की आत्मा आध्यात्मिक स्वर एवं धार्मिक अभिव्यंजना से अनुप्रमाणित रही है। भारतीय सांस्कृतिक का अध्यात्म केवल एक ही व्यक्ति की गवेषण-चेष्टा नहीं, वरण विश्व में व्याप्त सामूहिक समष्टिगत आत्मा की खोज है। भारतीय संगीत सदैव एक विशेष भावना पर केंद्रित रहा है और अपने सुरों के माध्यम से संगीतकार उसी भाव को विकसित कर व्याख्यायित एवं संपोषित करता है।

संगीत मानव- मन की हर अनुभूति एवं अभिव्यक्ति का सूक्ष्मतम एवं सशक्त माध्यम माना गया है। जिस संगीत में सौंदर्य, माधुर्य, लालित्य एवं वैचित्र्य है, वहीं जनमानस पर अपना प्रभाव छोड़ने में सक्षम है। यही कारण है कि संगीत- कला जनमानस में परिवर्तन के लिए अत्यधिक उपयुक्त समझकर ध र्म, अध्यात्म, शिक्षा एवं उद्योग आदि सभी क्षेत्रों में समय-समय पर इसे प्रयोग में लाया गया। विद्वानों का मत है कि सृष्टि के उद्भव से विकास तक की प्रक्रिया में संगीत का अस्तित्व विद्यमान है। इसे नकारा नहीं जा सकता। भारतीय संगीत प्राचीन काल से ही अपनी दिव्यता एवं अलौकिकता के लिए विश्वभर में विख्यात रहा है।

आदिकाल में भारतीय संगीत का प्रयोग ईश्वर की आराधना कर उसे प्रसन्न करना था, जिससे मानव को आत्म शांति की उपलब्धि होती थी। संगीत के माध्यम से संगीतकार अपने मन को ईश्वर से जोड़ता था। जिस कारण संगीत को योग भी कहा जाता है। भारत में सर्वप्रथम पं0 विष्णु नारायण भारतखंडे एवं पं0 विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने संगीत विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों एवं की स्थापना किये और आज भी संगीत की वह ज्योति सतत प्रज्ज्वलित है।

संगीत शास्त्र के अनुसार जो भी गीत शास्त्र के बताए राग व ताल में गाया जाए, वह शास्त्रीय संगीत है। संगीत को गायन, वादन और नृत्य इन तीन आयामों में विभाजित किया गया है। ये तीनों कलाएं सिर्फ मनोरंजन ही नहीं करती बल्कि शारीरिक तथा मानसिक क्षमता भी बढ़ाती है तथा ताल लय, नियमबद्धता एकाग्र होना सिखाती है। शास्त्रीय संगीत में गुरू - शिष्य परम्परा के सदैव महत्वपूर्ण भूमिका रही है। भारत एक कला संपन्न देशा है। आज भी दूर-दूर से असंख्य विदेशी यहाँ आकर भारतीय कलाओं का अध्ययन करते हैं। यहाँ की रोचक तथा ज्ञानवध कि कलाओं ने उन्हें इतना आकर्षित किया है कि वे अपना पूरा जीवन साधना में बिताना चाहते हैं।

संगीत शिक्षा के क्षेत्र में शास्त्रीय संगीत के शिक्षण एवं रोजगार दोनों के ही मार्ग खुले हुए हैं। फिर भी वर्तमान में शास्त्रीय संगीत के शिक्षण स्तर में बदलाव लाने की अत्यंत आवश्यकता है। आज विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय स्तर पर संगीत शिक्षार्थियों की संख्या में वृद्धि हुई। परंतु, इनमें संगीत के परिप्रेक्ष्य में संयम, लगन व धैर्य तथा

प्लस टू शिक्षक, संगीत विभाग, पार्वती लक्ष्मी कन्या विद्यालय, झंझारपुर

Scanned with CamScanner

संगीत अभ्यास की कमी है। इसी प्रकार अध्यापन कार्य में गुरूजन भी अपेक्षित तल्लीनता व ईमानदारी नहीं बरतते हैं। संगीत विधा में छात्रों का एक ऐसा वर्ग है जो बुद्धिमान व संगीत प्रेमी रहने के बावजूद उनके पास सुरीले कंठ नहीं है और वे कठिन परिश्रम अथवा साधना करने में भी अपनी रूचि नहीं दिखाते। कुछ ऐसे भी विद्यार्थी हैं जो खयाल, ध्रुपद आदि की अपेक्षा ठुमरी, दादरा, कजरी, चैती आदि अच्छा गा लेते हैं, लेकिन इन्हें इन सबका समुचित शिक्षण लेने का अवसर नहीं मिलता है।

संगीत के क्षेत्र में कुछ ऐसे व्यावसायिक पाठ्यक्रम तैयार किये जाने की जरूरत है जिससे अपनी रुचि के अनुरूप किसी संगीत आधारित व्यावसायिक पाठ्यक्रम के कुछ निम्न विकल्प हो सकते हैं।

-पार्श्व गायन
-संगीत निर्देशन
-ऑडियो-वीडियो व सीडी निर्माण की तकनीकी
-संगीत चिकित्सा
-संगीत पत्रकारिता
-संगीत-विपणन
-वाद्य यंत्रों का निर्माण व मरम्मत
-वेबसाइट क्रिएशन
-पुस्तक प्रकाशन व विक्रय आदि।

जिस प्रकार विज्ञान विषय में एप्लाइड कोर्स के रूप में विकल्प छात्रों को प्राप्त है उसी तौर पर फिजिक्स में एप्लायड फिजिक्स, कैमिस्ट्री में एप्लायड केमिस्ट्री जैसे उप विभाग स्तर के पाठ्यक्रम संचालित है। ठीक इसी प्रकार संगीत में भी एप्लायड म्यूजिक जैसे पाठ्यक्रम का निर्धारण कर अपनी वर्त्तमान शिक्षा पद्धति में सम्मिलित करने की आवश्यकता है। जीवन संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए संगीत कला के शिक्षार्थियों को संगीत से जुड़े किसी भी व्यावसायिक पाठ्यक्रम को अपनाने की आवश्यकता है ताकि जीवन निर्वाह के लिए कहीं भटकने की जरुरत नहीं पड़े। स्वाभाविक है कि कोई भी संगीत शिक्षार्थी लंबी अवधि तक संगीत कला के किसी भी पाठ्यक्रम का शिक्षण-प्रशिक्षण के पश्चात अर्थोपार्जन के लिए संगीत से जुड़े व्यवसाय से अपना जीवन निर्वाह करने में सफल होता तो उसे अर्थोपार्जन के साथ-साथ कार्य संतुष्टि की प्राप्ति होती है और समाज में उसे सम्मान की नजर से देखा जाता है। आज यह आवश्यक है कि शास्त्रीय संगीत की परंपरा बनाए रखने के लिए संगीत-संस्थाओं से उच्च कोटि के कलाकारों, गुणीजनों को जोड़ा जाए। इसे लोकप्रिय बनाने के लिए राज्य के सभी स्तर के शिक्षण संस्थाओं में संगीत की पढ़ाई सुनिश्चित की जाए। साथ ही इसके उज्ज्वल भविष्य के लिए देश के हर राज्य में संगीत विश्वविद्यालय की स्थापना हो। राज्य सरकारें शास्त्रीय संगीत से जुड़े तमाम कलाकारों व संस्थाओं को आर्थिक सुविधाएं प्रदान करें ताकि कला की साधना एवं प्रचार करने में अर्थ संकट न रहे। सरकारी एवं प्रशासनिक नियुक्तियों में संगीत के छात्रों को भी आगे आने के अवसर दिए जाएं। इसके लिए संगीत विधा से आरक्षित पद हो।

अंत में मैं यही कहना चाहूंगा कि आज के वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य से जोड़कर एक सर्वांग सुंदर संगीत शिक्षण प्रणाली का निर्माण हो जिसमें जीविकोपार्जन हेतु व्यावसायिक दृष्टिकोण रखा जाए ताकि जनसमान्य में शास्त्रीय संगीत के प्रति अनुराग बढ़ सके। वास्तव में संगीत कला पाठ्यक्रम को वर्त्तमान परिस्थितियों के अनुरूप तथा छात्रों के अनुकूल बनाया जाए तभी संगीत शिक्षण रुचिकर तथा लाभकारी बन सकेगा। परन्तु इस कार्य को संगीत कर्णधार ही कर सकते हैं, दूसरा कोई नहीं कर सकता।

संदर्भ :-

(1) संगीत पत्रिका - सितंबर, 2006
(2) संगीत निबंध संग्रह- प्रो. हरिश्चंद्र श्रीवास्तव

Scanned with CamScanner

संगीत व चिकित्सा

डॉ0 श्रीमती शालिनी शर्मा

भारत के चिकित्सा इतिहास पर गौर करें तो ये बहुत ही समृद्ध व प्रभावशाली रही है। प्राचीन काल से ही भारत में अनेकों चिकित्सा पद्धतियां विकसित रही है। जिनमें नेचुरोपैथी, एलोपैथी, आयुर्वेद, प्राकृतिक चिकित्सा, योगा आदि पद्धतियां काफी प्रभावी व उपयोगी रही है। इस क्रम में यदि हम संगीत की चर्चा ना करे तो यह अपूर्ण ही रहेगी।

संगीत को हम एक वैकल्पिक चिकित्सा के तौर पर प्रयोग करे रहे है। किन्तु प्राचीन काल से ही ये एक पूर्ण चिकित्सा पद्धति के रूप में अपना प्रभाव डालती आई हैं। उल्लेखनीय है कि वैदिक युग में ऋषियों मुनियों ने अपनी सांत्रिंतिक एवं मंत्र साधना के बल पर ही बहुत सी सिद्धियां हासिल कर लिए थे। इस प्रकार कहा जा सकता है की मंत्रो की रचना भी इसके सांगीतिक और शाब्दिक प्रभाव को ध्यान में रखकर ही की गयी थी। वे लोग अपनी साधना के बल पर इससे मनचाहा सिद्धि प्राप्त करने में भी सक्षम थे।

जैसे रोगी को अच्छा कर देना, अदृश्य हो जाना आदि इस प्रकार के कई उदहारण हमारे प्राचीन ग्रंथों में भी उपलब्ध है। सामवेद में रोगों के निवारण के लिए राग विज्ञान मिलता है। अश्विनी कुमारो ने भैषज में हर एक रोग के लिए चार भैषज कहे है। पवनौकस, जलौकस, वनौकस और शब्दिक। क्रोंच मुनि ने ग्रन्थ ''कुणक प्रभा'' के प्रथम प्रकरण मे शब्द कि उत्पत्ति शब्द और शरीर क सम्बन्ध आदि का वर्णन है।।

पंडित नारद कृत। संगीत। मन हृदय लेखक के रागों की जातियों के अनुसार शरीर पर अंतरंग प्रभावों का वर्णन किया, तथा आयु, धर्म, यश। बुद्धि! धन! धान्य! लाभ, संतोष की अभिवृद्धि इत्यादि के लिए पूर्ण रागों का गायन करने की आवश्यकता पर जोर दिया है। संग्राम, रूप, लावण्या, विरहा और किसी के गुण चिंतन की दवाओं में औड़व रागों का गायन करने की बात कही गई है किसी व्याधि को दूर करने शत्रु नाश करने, शौक में किसी व्याधि में संताप विषय ग्रह मोचन करने के लिए। शारीरिक अस्वास्थ्य और मन जल के लिए और रागों का गायन करना चाहिए। शब्द कौतूहल नामक ग्रंथों में वर्णित है कि रागों के शब्द से रोग निदान शाब्दिक औषधि, वीणा, तंत्री, पणव, चेरी, मृदंग, मंजरी, वंशी आदि बाजे भैषज से ही बनाने और उसको सुना कर रोक ग्रहण विवरण है। हर रोग के लिए पृथक-पृथक बाजो के शब्दों आदि का प्रावधान है। इस ग्रंथ के तीसरे प्रकरण में श्रवण मनन और कीर्तन से रोग हरण का विवरण है।2

20वीं सदी से पश्चात देशों में सांगीतिक चिकित्सा पर व्यापक अनुसंधान करना शुरू हुआ। इसी की परिणाम था कि 1944 ई0 में मिशिगन इसी पाठ्यक्रम को सबसे पहले 1946 में कन्यस विश्वविद्यालय में प्रारम्भ किया गया। अन्य कॉलेजों ने भी इसे शीघ्र अपना लिया।

सन 1950 ई0 में नेशनल एसोसिएशन फॉर म्यूजिक थेरेपी (N.A.M.T) नाम से इस कार्य हेतु एक संस्था स्थापित कर दिया गया। इस संस्था के माध्यम से संगीत चिकित्सा के प्रमाण पत्र दिए जाने और पंजीकरण आदि होने लगे।3 अपने देश में भी संगीत चिकित्सा विषय पर कई शोध कार्य, विचार,

स0 शिक्षिका, आ0 बा0 उ0 विद्यालय, अमरपुर बाका

Scanned with CamScanner

गोष्ठियाँ आदि-आदि का आयोजन किया जाने लगा है, जैसे गांधार्व वेद विश्वविद्यालय में अप्रैल 1987 में संगीत चिकित्सा विषय पर अखिल भारतीय वैचारिक सामंजन आयोजन किया गया। इसी तरह समाचार पत्र दैनिक भास्कर में प्रकाशित प्रसिद्ध वायलिन वादक, कुन्ना कुड्डी वैद्यानाथन के साक्षात्कार के अनुसार चेन्नई से राग अनुसन्धान केंद्र की स्थापन की गयी और इस केंद्र में रागों की चिकतसा क्षमता पर पता लगाने का प्रयास किया जा रहा है।4 इस तरह कई चिकित्सक एवं संगीतज्ञ भी संगीत द्वारा चिकित्सा कर रहे हैं और उसके परिणाम भी सकारातपक आ रहे है।

संगीतज्ञ चिकित्सा पदुदति पर गौर करें तो संगीत और चिकित्सा का सम्बन्ध अत्यंत प्राचीन है। मनुष्य ने अनेक वर्ष पूर्व ही संगीत के चिकित्सीय उपयोग के विषय में जानकारी हासिल कर ली थी। सर्वप्रथम संगीत का चिकित्सीय उपयोग का साक्ष्य ताम्र युग से मिलता है। ऐसा माना गया है कि जब कोई बीमार पड़ता था तो लोग दवाई के स्थान पर संगीत से चिकित्सीय उपचार करते थे।5 इस प्रकार संगीत मनोरंजन का ही मात्र साधन नहीं था अपितु उपचार के लिए भी प्रभावी कारकों के रूप में प्रयुक्त होता था। द्रविड़ ने संगीत के विषय में वैज्ञानिक तरीकों से खोजना शुरू किया और उसके प्रभाव के विषय में महत्वपूर्ण जानकारियां हासिल की। यही कारण है कि संगीत को धार्मिक सीमा तक ही सीमित नहीं रखा बल्कि उसे चिकित्सक के क्षेत्र में भी प्रयोग किया। वस्तुतः द्रविड़ लोग संगीत के जिस रूप को ढूंढ कर चिकित्सा हेतु प्रयुक्त कर रहे थे इसे आज के वैज्ञानिक भी ढूंढने असमर्थ है। तभी तो आज के युग के संगीत का चिकित्सा के क्षेत्र में व्यापक प्रयोग नहीं हो पा रहा है।6

सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ आरसन ली ने "ऐ शार्ट अकाउंट ऑफ़ इंडियन म्यूजिक" नामक पुस्तक में उल्लेख किया है कि मुगल दरबार का तानसेन बड़ा चमत्कारिक गायक था। उसने दीपक राग गाकर अकबर बादशाह को आश्चर्य सागर में डुबो दिया था। इस राग के गाने पर अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठती थी। इसी प्रकार वीणा वादन से मृगो को बुला लिया जाता था।7

संगीत में मुख्यतः मानसिक लक्षणों को बड़ी आसानी से प्रकट किए जाते हैं क्योंकि इसमें रागों, भावों, रसो, स्वरों वाद्य यंत्रों द्वारा मानव के हृदय व भावो को सीधे स्पर्श किया जाता है। जिनका सीधा संबंध मानव मानसिकता से है होम्योपैथिक चिकित्सा पद्धति में भी मानसिक लक्षणों को शारीरिक लक्षणों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है। चूकी होम्योपैथिक के अनुसार रोग सर्वप्रथम मस्तिष्क में पैदा होता है तथा बाद में इसके लक्षण शरीर में दृष्टिगोचर होता है। अतः रोगों के मानसिक स्थिति एवं मानसिक लक्षण चिकित्सा हेतु काफी महत्वपूर्ण होते हैं। संगीत के मनुष्य के मन और उसकी मस्तिष्क स्थिति को प्रभावित करने की असीम क्षमता होती है। अतः रोगी मानसिक लक्षणों को आधार मानकर चुने गए रागों के द्वारा उसका उपचार करने पर हमें सफलता प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार कह सकते हैं कि होम्योपैथी चिकित्सक को आधार मानकर या इस पद्धति के सिद्धांत अनुसार भी संगीत द्वारा चिकित्सा की जा सकती है।

आधुनिक काल के पूर्वज में भी कई संगीतकारों और कलाकारों ने संगीत के पुनरुत्थान का बीड़ा उठाया। डॉ0 जे0 पाल की पुस्तक संगीत चिकित्सा 1938 में प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने ज्वर मानसिक बीमारियां आदि से पीड़ित रोगों के उपचार संबंध में महत्वपूर्ण जानकारियां दी।

उल्लेखनीय है पश्चात जगत में संगीत के रोग नाशक रूप का विवरण ईसा पूर्व पंद्रह सौ के लगभग लिखा गया मिश्र के मेडिकल पपेरो में मिलता है। इसकी खोज 1899 में पेस्ट्री पेट्री नामक वैज्ञानिक ने की थी। इस ग्रन्थ में संगीत का प्रभाव स्त्रियां पर उनकी प्रजनन क्षमता बढ़ाने के सम्बन्ध में है। इस प्रकार का वर्णन यूनानी गायको में भी मिले है।8 गायन को यौगिक स्वास्थ साधन भी कहा गया है। गाते समय मुँह, जीभ और होंठ ही काम नहीं करते वरन आवाज नाभि से खींचती है और ब्रह्माण्ड तक पहुँचती है फिर तालुओं से खींचकर गले से उसे निकाला जाता है। इस तरह कमर से निचे के हिस्सों को छोड़कर शेष सम्पूर्ण शरीर का भीतरी व्यायाम हो जाता है। विज्ञानों ने गायन के प्रभाव का विशलेषण करते हुए कहा है कि गायन से शरीर और मस्तिष्क

Scanned with CamScanner

कि नाड़ियों का शोधन होता है। ज्ञान हेतु सजग होते है। गाने से नाड़ी संस्थान में लहरे उठती है और उनसे प्रभावित होकर मन भी लहराने लगता है।9

गायन को एक प्रकार का योगाभ्यास तथा वृक्ष एवं कंठ संस्थान से समीपवर्ती अवयवों का महत्वपूर्ण व्यायाम माना गया है। भारतीय संगीत शास्त्र के आचार्यो के अनुसार[7] गायन में आवाज नाभि, केंद्र से उठती है तथा ब्रह्म रंध्र तक पहुँचती है। तालु, कंठ, फुफ्फुस, हृदय, आमाशय, यकृत एवं होठों को प्रभावित करते हुए एक गतिचक्र बनती हुई पुनः अपने उद्गम स्थान नाभि तक पहुँचती है। यह गतिचक्र अपने प्रभाव क्षेत्र के सभी अवयवों को न केवल व्यायाम प्रयोजन पूरा करती है वरन् उनमें प्राणवायु के अतिरिक्त अनुदान भी देती है।10

गायन के अतिरिक्त वाद्ययंत्रो से भी इस प्रकार का लाभ प्राप्त होता है। जो मनुष्य वाद्ययंत्र स्वयं बजाते है तो उन्हें गायन के समान हि लाभ मिलता है। इसके साथ ही जो लोग गायन या वादन सुनते है तो उनसे ध्वनि एवं साथ-साथ जो ताल क्रम चलता है उससे उपयोगी सम्पदन उठते है जो व्यक्ति लाभान्वित होता है। संगीत में विदित तिसरी विद्या नृत्य से तो पूर्णरूपेण शारीरिक व्यायाम हो जाता है। इसके द्वारा समस्त शरीर का नैसर्गिक व्यायाम अपने आप हो जाता है। शास्त्रकारों के अनुसार संगीत एक प्रकार की स्वर साधना एवं प्राणायाम है जिसे शरीर के भीतर अवयवों का व्यायाम भी होता है और ऑक्सीजन की वृद्धि भी। कहा जाता है कि स्वस्थ शरीर से स्वस्थ मस्तिष्क होता है और संगीत मस्तिष्क को स्वस्थ रखने में काफी मददगार होता है। संगीत से हमारे शरीर के भीतर आतंरिक शारीरिक परिवर्तन होते है जैसे क्रोध की दशा में हमारे हृदय की धड़कन बढ़ जाती है। आश्चर्य से श्वाँस रुक जाती है। भय से गला सूख जाता है। दुःख से आँखे भर जाती है। इस तरह संगीत से भी हृदय गति में, नाड़ी गति में परिवर्तन होते है। विशेषज्ञ के अनुसार शास्त्रीय संगीत को रखना वैज्ञानिक प्रक्रिया पर आधारित है। प्राचीनकाल से धार्मिक कृतियों में संगीत को बहुत अधिक महत्व प्राप्त था। इसे भक्ति रस स्वास्थ और मानसिक असंतुलन को स्वर विज्ञान के आधार पर उपयुक्त गायन के विधान से संतुलिन किया जा सकता है। संगीत में छिपी हुई इस स्वास्थवर्धक रोगनाशक शाक्ति को ध्यान में रखते हुए हमारे प्राचीन ग्रंथों में प्रत्येक मनुष्य को संगीत का ज्ञान आवश्य होना चाहिए। एक अच्छे चिकित्सक को स्वर विज्ञान का ज्ञाता होना चाहिए। यह सत्य भी है क्योंकि जिसे वेद का साम का नाद का ज्ञान ना हो उसके अन्तः में संवेदना के अंकुर कैसे फूटेंगे एवं यदि वह अन्याय औषधि के साथ संगीत को न जोड़ पाया तो उसकी चिकित्स आयुर्वेद अधूरी ही रहेगी। चरक जो महान आयुर्वेद के चिकित्सक थे और जिन्होंने चरक संहिता की रचना की संगीत का चिकित्सातमक रूप को मानते थे।

संदर्भ :-

(1) मासिक पत्रिका संगीत लेख राग चिकित्सा 1993
(2) मासिक पत्रिका संगीत लेख राग चिकित्सा 1993
(3) मासिक पत्रिका दैनिक भास्कर मार्च 1997
(4) पूर्वोक्त
(5) उमेश जोशी भारतीय संगीत का इतिहास लेखन
(6) पंडित श्री राम शर्मा श्रीमती भगवती शर्मा
(7) मासिक पत्रिका संगीत लेख राग दिसंबर 1993
(8) मासिक पत्रिका संगीत लेख राग अप्रैल 1998
(9) संगीत (मासिक पत्रिका) फरवरी 96
(10) आचार्य श्री राम शर्मा

Scanned with CamScanner

लोकधुन और राग

डॉ भवानी शारदे

भारतीय संगीत का प्रधान वैशिष्ट्य 'राग' है। यह शब्द मूलतः संस्कृत भाषा का है जिसका उद्‌गम रंज' धातु से हुआ है। 'रंज' धातु का प्रयोग रंगने के अर्थ में बताया गया है, अतः राग का अर्थ है हमारे मन को अपने रंग में रंग लेना और यही राग का ध्येय भी है।

भारतीय संगीत पद्धति एकदम वैज्ञानिक, नियम बद्ध और पूर्णतया राग पर अवलंबित है। स्वर तथा ताल किसी न किसी रूप में दुनिया की सभी संगीत प्रणालियों में विद्‌यमान है परंतु राग की अवधारणा भारतीय संगीत की खास विशेषता है जो इसे विश्व संगीत में सबसे अलग और उच्चतम स्थान दिलाता है, इसलिए भारतीय संगीत को जानने, समझने के लिए इसकी राग पद्धति को जानना बहुत आवश्यक है।

मानक हिंदी कोश के अनुसार राग के कई अर्थ हैं, जैसे-

1 किसी की रंग से युक्त करने की क्रिया या भाव रंजीत करना रंगना
2 रंगने का पदार्थ या मसाला रंग
3 लाल रंग लाल होने की अवस्था या भाव
4 लाली जो कपूर, कस्तूरी, चंदन आदि से बनाया जाता है
5 पैर में लगाने का आलता
6 किसी के प्रति होने वाला अनुराग या प्रेम
7 किसी अच्छी चीज के प्रति होने वाला अनुराग और उसे प्राप्त करने की इच्छा या कामना अभिमत यह प्रिय वस्तु पाने की अभिलाषा
8 मन में रहने वाली सुखद अनुभूति
9 खूबसूरती/सुंदरता
10 क्रोध/गुस्सा
11 कष्ट/तकलीफ/पीड़ा
12 ईर्ष्या/द्वेष/मत्सर
13 मन प्रसन्न करने की क्रिया मनोरंजन
14 राजा
15 सूर्य
16 चंद्रमा
17 संगीत के राग। 1

इस प्रकार देखते हैं कि राग के कई अर्थ है जिसका प्रयोग अधिकतर भिन्न-भिन्न अर्थों में होता है। संगीत शास्त्र में राग का प्रयोग सामान्य और विशेष दोनों अर्थों में हुआ है। सामान्य अर्थ में राग रंजकता का द्योतक है और विशेष अर्थ में वह एक ऐसे नादमय व्यक्तित्व का द्योतक है जो स्वरमय और भावमय से समन्वित है। इन समन्वित व्यक्तित्व को विच्छेदन नहीं किया जा सकता तथा यह परस्परावलंबी भी है। प्रत्येक राग सुखप्रद होने के अर्थ में तो रंजक होता ही है। साथ ही उसका अपना एक वैशिष्ट्य भी होता है।

इसी वैशिष्ट्य के कारण उसमें रंजकता के विशेष अर्थ यानी रंग देने की शक्ति का भी समन्वय पाया जाता है भिन्न-भिन्न रागों की इस विशिष्ट रंजकता को प्रस्तुत करने में किस कलाकार को कितनी सफलता मिलती है यह उसकी आजीवन साधना और तपस्या पर निर्भर है। अमूर्त भावों को स्वरों द्‌वारा मूर्त करना प्रत्येक संगीत का कार्य है।[3]

लोकगीत किसी जाति, वर्ग, समूह और देश की लोक संस्कृतियों के परिचायक एवं समग्र संवाहक

(संगीत शिक्षिका), माउंट कार्मेल हाई स्कूल, बेली रोड पटना

Scanned with CamScanner

हैं। इसमें जीवन के प्रत्येक धड़कनों का एहसास दृष्टिगत है। मानव के समस्त संस्कार, पर्व-त्यौहार, हर्षोल्लास, हास-परिहास, सुख-दुख, आचार-विचार, रीति-रिवाज, धर्म-कर्म आदि के दिग्दर्शन इसमें सहज रूप से मिलता है। यह जीवन का स्फुट काव्य है। यह किसी एक व्यक्ति के द्वारा रचित ना होकर समूह गत रचना शीलता का परिणाम है।

यह लोकतंत्र की धरोहर है जो एक कंठ से दूसरे कंठ, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संचरण होती है, यह पीढ़ियों के खरे अनुभव से तप कर बनता है। इसलिए इसकी मार्मिकता, काव्यात्मकता, रसादश्क्ता, संगीतात्मकता, व्यापकता आदि अधिक सरल, स्पष्ट और व्यापक होती है।

लोकगीतों में लोक स्वर बसता है, जो लोक संगीत को जन्म देता है।

लोकधुनें लोक संगीत का स्वरूप निर्धारित करती है। यह धुन लोक में जीवन का कोई भी अवसर ऐसा नहीं होता जब कोई गीत न गाया जाता है। चाहे जन्म हो, विवाह हो या कोई अन्य मांगलिक अवसर, कोई न कोई गीत अवश्य गाया जाता है। यहां तक की मृत्यु के अवसर पर भी अवसाद गीत गाए जाते हैं। वस्तुतः लोक गीत, लोक निःसृत प्राकृतिक गान है, जिसमें लोक का समस्त जीवन व्यक्त हुआ है। इन गीतों का चित्तफलक इंद्रधनुषी है, जो क्षितिज के एक छोर से उठकर दूसरे छोर तक चला जाता है।

लोकगीत विभिन्न भूखंडों पर फैले अपने धर्म, विश्वास और परंपरा पर आश्रित मानव मन के मानचित्र हैं। इनमें जीवन के सुख-दुख मिलन-विरह, उतार-चढ़ाव की भावनाएं व्यक्त होती है। सामाजिक स्थिति के क्षण-क्षण के भाव इस गीत में बंधे हैं। इसमें सरल अनुभूति और स्वाभाविकता, स्वच्छता एवं सरलता है।

लोकगीतों में लोक स्वर बसता है और यही आदिम युग से ही मनुष्य के अंतः करण में लोकधुन निहित है। वस्तुतः संपूर्ण जगत ही नादमय है। झरनों की झर-झर, वनों की मर-मर, नदियों की कल-कल, पक्षियों की चहचहाहट, भ्रमरों की गुनगुनाहट, पशुओं की भिन्न-भिन्न बोली इत्यादि में संगीतिक स्वर गुंजायमान है। इन्हीं ध्वनियों से लोक रूचि के अनुसार लोकधुनों का निर्माण करते रहते हैं।

यह लोग धुन जब किसी संगीतज्ञ के हृदय को छूती है तो वह संगीतज्ञ लोकधुन को परिष्कृत कर 'राग' के रूप में पेश करता है। इस धुन में वह वादी-संवादी, वर्ज्य-विवजर्य, आरोह-अवरोह इत्यादि के नियम में बांधकर राग का निर्माण करता है।

हमारे ग्रंथकारों ने भी अपने समय की प्रचलित धुनों का 'देशीराग' के अंतर्गत वर्णन किया है। अहिरी, मालवी, भटियारी, मुल्तानी, सोरठ, विहारी, मांड आदि राग रूप उन विभिन्न इसके पश्चात कुछ ऐसे प्रचलित रागों का उल्लेख किया जा रहा है जो धुनों या लोकधुनों से ही उत्पन्न हुए, चूंकि वह रागध ुनों से उत्पन्न हुए हैं इसलिए उन्हें धुन राग भी कहा जा सकता है। यह 'राग' यह 'धुन राग' निम्नलिखित हैः-

1. राग मांड
2. राग पहाड़ी
3. राग पीलू
4. राग दुर्गा
5. राग खमाज
6. राग भैरव
7. राग गारा
8. राग बरवा
9. राग आशा
10. राग काफी
11. राग झिंझोटी
12. राग जैजैवंती
13. राग पूर्वी
14. राग सोरठ
15. राग गुजरी तोड़ी

इनमें से कुछ विशिष्ट धुनों की चर्चा हम विस्तार से करेंगे।

1. राग मांडः-

मांड लोकधुन राजस्थान की प्राचीन पारंपरिक लोकध ुनों में से एक है और आज भी यह राजस्थान की एक विशिष्ट गायन शैली है जिसे वहां की व्यवसायिक गायक जातियों द्वारा गाया वह बजाया जाता है। यह व्यवसायिक जातियां- लंगा,भंगानियर,मिरासी ढोली

Scanned with CamScanner

आदि अपनी पुरानी पीढ़ियों के दवारा लोक संगीत का प्रचार व प्रसार करती चली आ रही है। मांड की लोकधुनों के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के गीत गाए जाते हैं जैसे भजन के गीत,प्रकृति के गीत,बिरहा गीत इत्यादि।

शास्त्र के अनुसार राग मांड में सभी स्वर शुद्ध प्रयुक्त होते हैं इसका वादी स्वर तथा संवादी स्वर पंचम है इस राग का आरोह अवरोह इस प्रकार है:-

आरोहः- सा रे म पा ध सां

अवरोहः- सां नि ध म प ग रे सा।

प्रस्तुत राग में प तथा नि महत्व के स्वर हैं। इसके आरोह में ग तथा नी का अल्पत्व है तथा सा रे ग म प ध सां का चलन है। सां नि

2. राग पहाड़ीः-

पहाड़ी प्रदेश जैसे गढ़वाल कश्मीर तथा हिमालय प्रदेश के लोकगीतों के धुनों का संक्षिप्त रूप से अध्ययन करने पर पता चलता है कि इन प्रदेशों में पारंपरिक लोक गीतों की धुनों में राग पहाड़ी के तत्व सर्वाधिक मात्र में मिलते हैं। इन प्रदेशों के लोकगीतों का इतिहास भी बहुत पुराना है जिसका हमें कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। वैसे तो इन प्रदेशों की लोकधुनों में और भी कई रागों की छाया का आभास होता है परंतु पहाड़ी सर्वाधिक झलकता है। इन प्रदेशों की भौगोलिक स्थिति पहाड़ी होने के कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि पहाड़ी राग के स्वरों का प्रचलन व विकास पहाड़ की धुनों द्वारा ही उत्पन्न व प्रचलित हुआ। वाद में इन दोनों को संगीत विदुवानों ने गाया और इसे पहाड़ी राग शास्त्र में सम्मिलित कर लिया। पहाड़ी धुनें वैसे तो और प्रांतों में सुनने को मिल जाती है।

3. राग खमाजः-

इस राग की रचना खमाज थाट से मानी गई है। इस के आरोप में ऋषभ वर्जित है और अवरोह में सातों स्वर प्रयोग किए जाते हैं। इसलिए इसकी जाति षाड़व संपूर्ण है। इस के आरोप में शुद्ध लगते हैं। वादी स्वर गंधार और संवादी स्वर निषाद स्वर निषाद माना जाता है। गायन समय रात्रि का द्वितीय प्रहार है।

आरोहः- साग म प ध नी सां

अवरोहः- सां नि ध प म ग रे सा

पकड़:- नि ध प म ग रे सा।

परिचय एवं विशेषताः-

यह चंचल प्रकृति का राग है अतः इसमें छोटा ख्याल,ठुमरी,टप्पा गाई जाती है। इसमें विलंबित खयाल गाने का प्रचार नहीं है। वादन में मसीत खानी और रजा खानी अर्थात विलंबित और द्रुत दोनों प्रकार की गति बजाई जाती है। कल्याण राग के समान यह भी एक आश्रय राग है। ऊपर में यह बताया जा चुका है कि इस के आरोह में ऋषभ वर्जित है किंतु ठुमरी में गाई जाती है।

4. राग झिंझोटीः-

राग झिंझोटी का जन्म खमाज थाट से हुआ है। इसका वादी स्वर गंधार तथा संवादी निषाद है। इसमें कोई स्वर वर्जित नहीं है इसलिए इसकी जाति संपूर्ण है। गायन समय रात्रि का दूसरा प्रहर है। इसे खमाज थाट का आश्रय राग कहा जाता है। झिंझोटी राग में निषाद कोमल प्रयोग किया जाता है और शेष शुद्ध स्वर है। कभी-कभी कोमल गंधार ही प्रयोग करते हैं जैसेः- सा रे ग रे सा नि ध. प्.। इसके वादी संवादी में मतभेद है। कुछ लोग इसका वादी सा तथा संवादी प मानते हैं, लेकिन यह तर्कसंगत नहीं होगा, क्योंकि निषाद स्वर कोमल है। इसे अन्य रागों से स्वतंत्र बनाए रखता है ध सा रे म ग यह स्वर समुदाय राग वाचक है।

आरोहः- सा रे ग म प ध नि सां

अवरोहः- सां नि ध प म ग रे सा, सा रे ग रे सा, नि ध् प्।

इस प्रकार से हम देखते हैं कि प्राचीन काल के वैदिक स्वर से जाति गायन,जाति गायन से राग की उत्पत्ति एवं राग का विकास हुआ। तत्पश्चात रागों से ही लोक धुनों की उत्पत्ति हुई।

संदर्भ ग्रंथ सूचीः-

1. वर्मा, रामचंद्र, मानस हिंदी कोश, चौथा खंड, पृष्ठ 491.

2. काश्यप, संगीत रत्नाकर, कल्लिनाथ कृत टीका, राग

Scanned with CamScanner

विवेकाध्याय, पृष्ठ संख्या 7 तथा मतंग वृहद्देशी- पृष्ठ 81.
3. मतंग वृहद्देशी, पृष्ठ 81, लोक 280 तथा भरतकोश, पृष्ठ संख्या- 921.
4. सोमनाथ, राग विबोध, चतुर्थ, पृष्ठ 101.
5. पंडित अहोबल, संगीत पारिजात, पृष्ठ- 97.
6. भातखंडे, पंडित विष्णु नारायण भातखंडे, संगीतशास्त्र, भाग 1, पृष्ठ- 21.
7. कुमार डॉ अरविंद, लोक स्वर से शास्त्रीय स्वर की ओर, अनूपमा स्मारिका, पृ0-12

Scanned with CamScanner

मातृत्व में प्रसवोपरान्त संगीत का महत्व

डॉ0 रुबी कुमारी

"प्रकृति की विशिष्टता व सुंदरता का विकास उत्पादन चक्र पर निर्भर है। संतानोत्पत्ति प्रकृति की विशिष्ट देन और जीवन की अनुपम उपलब्धि है। स्त्री के गर्भवती होने की उपलब्धि व मातृत्व की प्राप्ति का सम्मान मिलने से उसका जीवन पूर्ण होता है।"

"प्रसवोपरान्त शिशु के प्रभावी विकास हेतु दिए जाने वाले संस्कार की उपयोगिता को आधुनिक विज्ञान द्वारा भी सिद्ध किया गया है। गर्भकाल में गर्भ-संस्कार एवं प्रसवोपरान्त मातृ-संस्कार शिशु को अत्यधिक प्रभावित करते हैं। भारतीय संस्कृति साहित्य में प्रसिद्ध ग्रंथों में से एक, महाभारत नामक ग्रंथ के एक पात्र अभिमन्यु ने अपने गर्भकाल में पिता द्वारा माँ को सुनाए जाने वाले चक्रव्यूह-भेदन की प्रक्रिया को सुन कर आत्मसात किया किन्तु उस चक्रव्यूह से बाहर आने की प्रक्रिया को सुनने के पूर्व गर्भवती माँ के सो जाने के कारण ज्ञान का वह अंश आत्मसात नहीं कर सका। इस आधे-अधूरे ज्ञान के साथ, चक्रव्यूह के अंदर प्रवेश की विधि का ज्ञान होने से वह चक्रव्यूह भेदन तो कर सका, किन्तु पुनः बाहर आने की विधि का ज्ञान नहीं रहने के कारण चक्रव्यूह से बाहर आने में असमर्थ होकर वीरगति को प्राप्त किया। इसी प्रकार रानी मालदा की कहानी भी अत्यंत चर्चित है।"

"गर्भवस्था के बाद प्रसवोपरान्त भी माँ एवं शिशु के मध्य अति आत्मीय संबंध बना रहता है। इस संबंध में नवजात शिशु द्वारा माता के प्रति निकाली जाने वाली स्नेहपूर्ण और संगीतपूर्ण ध्वनि के साथ-साथ माँ द्वारा गाई जाने वाली वात्सल्यपूर्ण लोरी का महत्वपूर्ण स्थान होता है। शिशु के बेहतर स्वाभाविक विकास हेतु यह आवश्यक है कि शिशु के लालन-पालन में आवश्यक रूप से ध्यान दिये जाने के साथ-साथ आध्यत्मिक व व्यावहारिक पहलुओं की आवश्यकता को भी उनके परिवार के सभी सदस्यों के द्वारा समझा जाए: इससे बच्चा संपूर्ण रूप से पल्लवित व पुष्पित होता है।"

"प्रसवोपरान्त स्त्री द्वारा कैलोरीज अंतर्ग्रहण का विशेष महत्व होता है। इसका संबंध माता के शारीरिक वजन में वृद्धि से होता है। गर्भावस्था के उत्तरार्ध यानि द्वितीय और तृतीय त्रैमास में चयापचय की दर में विशेष वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार भोजन सात्विक आहार का अत्यधिक महत्व होता है। इस अवस्था में कभी भी तामसिक आहार का सेवन नहीं करना चाहिए, क्योंकि इसका सीधा प्रभाव गर्भस्थ शिशु पड़ता है।"

"गर्भसंस्कार शिशु एवं बाह्य वातावरण के बीच तारतम्य स्थापित कर बाह्य वातावरण से परिचय कराता है। ऐसे अनेक तथ्य वर्तमान में प्रकाश में आ रहें हैं। यह बताता है कि गर्भस्थ शिशु का मस्तिष्क अति तीक्ष्ण होता है, और वह जैसा हम सोचते व समझते हैं, उससे कहीं पूर्व ही चीजों को समझना आरंभ कर देता है।"

"भ्रूण के विकास के विषय में हमारे ज्ञान व अनुमान से अतिपूर्व ही शिशु-भ्रूण का ज्ञान तंत्र विकसित हो गया होता है। साथ ही परिस्थिति अनुकूलन की क्षमता शिशु में ज्ञान-तंत्र के उत्तरोत्तर विकास के संग दिन-प्रतिदिन सशक्त व शीघ्रता पूर्वक होती जाती है।"

"एक शोध में यह पाया गया है कि भारतीय

सहायक शिक्षिका, गृह विज्ञान विभाग, जया नन्द उच्च विद्यालय, बहेड़ा, दरभंगा

Scanned with CamScanner

शास्त्रीय संगीत, विशेष रूप से 'कल्याण राग' का गर्भवती महिला और उसके अजन्मे बच्चे पर बहुत सकारात्मक प्रभाव देता हैं। शोधकर्ताओं ने पाया कि अजन्मे बच्चे की हरकतों, सजगता और प्रतिक्रियाओं पर संगीत द्वारा काफी सुधार संभव होता है। गर्भवती महिला पर भी संगीत का अत्यंत सकारात्मक प्रभाव देखा गया है। संगीत तनाव को दूर करने और मानसिक चिंता से बचने में भी प्रभावी पाया गया।''

''ऐसे कई शोधों में संगीत के प्रयोग से निम्नलिखित सकारात्मक प्रभाव पाए गए:-

बच्चे और मां के संबंध में सुधार
बच्चे की हरकतों में सुधार
बच्चे के श्रवण कौशल में सुधार
बच्चे के व्यक्तित्व का बेहतर विकास

सबसे आश्चर्यजनक तथ्य है कि इन शोधों से पता चला है, कि गर्भस्थ शिशु भी माँ द्वारा सुने गए संगीत को भली-भाँति सुन सकता है, और यदि वह संगीत जन्म के बाद भी बच्चे की स्मृति में रहता है, तो उस धुन का उपयोग बच्चे को बहलाने हेतु किया जा सकता है।''

''जहां तक संगीत से संबंधित सावधानियां बरतने की बात है, तो आमतौर पर ऊंची आवाज़ में संगीत सुनना न केवल गर्भवती व शिशु पर बुरा प्रभाव डालता है, बल्कि अन्य लोगों की श्रवण शक्ति व सभी के मानसिक स्वास्थ्य को भी नुकसान पहुचाता है। इसलिए, कोमल व मधुर संगीत ही सुनना चाहिए। संगीत के स्वर जितने सुगम व कोमल होंगे, गर्भवती व शिशु पर उतना ही सकारात्मक प्रभाव होगा।''

संदर्भ सूची :-

1. मातृत्व कला एवं बाल विकास, लेखक- अनुपम रानी
2. आहार एवं पोषण विज्ञान, लेखक- डॉ0 प्रमिला वर्मा एवं डॉ0 कांति पाण्डेय, बिहार ग्रंथ अकादमी,
3. सगर्भावस्था और आपका बालक, लेखक- डॉ0 बाल लाल न0 पारीख, श्रीमती उषा बहन,
4. जहाँ महिलाओं के लिए डॉक्टर न हों, वॉल्युन्टरी हेल्थ एसोशिएशन ऑफ इंडिया

Scanned with CamScanner

लोकगीतों में सामाजिक चिंतन

खुशबू झा

साधारण बोलचाल की भाषा में समाज का अभिप्राय व्यक्तियों के समूह से है, परन्तु केवल व्यक्तियों के समूह को समाज नहीं कहा जा सकता है। समाज एक व्यापक शब्द है और विद्वान इसका प्रयोग भी व्यापक अर्थ में करते हैं। समाज से तात्पर्य मनुष्यों के विशाल समूह से नहीं है, बल्कि सामाजिक सम्बन्धों से है। मैकाइवर के अनुसार-मनुष्य का एक दूसरे के साथ ऐच्छिक सम्बन्धों से है। मैकाइवर के अनुसार समाज संबंधों का जाल है। जिन्सबर्ग के अनुसार पारस्परिक संबंध समाज का आधार है।[1]

मनुष्य जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त समाज में रहता है। उसके जीवन के हर एक पहलू पर समाज का प्रभाव अवश्य रहता है। अरस्तु ने भी कहा है- मनुष्य सामाजिक प्राणी है। मनुष्य ढाँचे में इस प्रकार बँधा रहता है कि उसके बिना उसका निर्वाह हो ही नहीं सकता है। शिशु जब जन्म लेता है तब समाज ही उसकी देख-रेख सेवा- सुश्रुषा करता है। इसके अभाव में बच्चे का विकास रुक जाएगा। अतः एक सद्यः जात शिशु अपने शारीरिक और मानसिक विकास के लिए हर तरह से समाज पर आश्रित है। मानव को जीवित रहने के लिए अपने जीवन की अनिवार्य इच्छाओं की पूर्ति आवश्यक है। इन इच्छाओं की पूर्त्ति समाज पर आश्रित है, उसी तरह समाज को भी व्यक्ति की अपेक्षा है। समाज की अपनी कोई अलग स्वतंत्र सत्ता नहीं है। अपनी उद्देश्यों एवं आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही मनुष्यों ने समाज का निर्माण किया। व्यक्ति समाज से पूर्ण बनता है और समाज व्यक्ति से। व्यक्ति की उन्नति से समाज उन्नति के शिखर पर पहुँच जाता है और समाज की प्रगति तथा उसकी सभ्यता के विकास से मनुष्य की उन्नति होती है। समाज मनुष्य के लिए है मनुष्य समाज के लिए है। अतः वह व्यक्ति धन्य है जो समाज सुशोभित करता है और वह समाज भी धन्य है जो व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में सहायक होता है।

लोकगीत लोक के मानसिक और सामाजिक विकास की प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करते हैं। अतः इस आधार पर लोकगीत को लोक के आत्मकथात्मक उत्स की संज्ञा दी जा सकती है।[2]

पुत्री के विवाह की चिन्ता

हमारे समाज में पुत्री के जन्म लेने पर माँ को ऐसा लगता है कि मानो सारी धरती पर हाहाकार छा गया है। सास और ननद तो बात ही नहीं करती हैं। पति का भी मन उदास हो जाता है। पुत्री का जन्म पिता के लिए महान् चिन्ता और कष्ट का कारण बन जाता है। फिर पुत्री जन्म लेकर माता की गोद में धीरे-धीरे पलती हुई बड़ी होती है। बड़ी होने पर मानो घर के लोग सोचने लगते हैं कि जल्द ही इसका विवाह कर ससुराल भेज दिया जाए। पुत्री को पराए घर की धरोहर समझा जाता है। इस धरोहर को वापिस नहीं कर दिया जाए तब तक घर वाले चिन्ता में ही डूबे होते हैं। वर ढूँढने के लिए पिता गाँव-गाँव ढूँढते हैं कि सर्वगुणसम्पन्न वर मिल जाए तो पिता पुत्री का विवाह कराए, ये सब उत्तरदायित्व पिता के ऊपर होता है।

पुत्री अपने पिता से कहती है कि हे पिता जी! जिसके घर में कुँवारी लड़की है, वह भला निश्चिन्त

शोध छात्रा, कि०वि० संगीत एवं नाट्य विभाग, ल० ना० मि० वि० दरभंगा।

Scanned with CamScanner

कैसे सो सकते हैं इतना सुनकर पिता चिन्तित होकर उठते हैं, लटपत पगड़ी बाँध लेते हैं और वर खोजने के लिए उत्तर-दक्षिण दिशा में चले जाते हैं-

बाबा के हवेलिया में आलरी झालरी
ओही पैसी बहै छै बतास है।
ओही घुरूमि नींद लेए है।
जैसी घर आही बाबा धिया जे कुमारी
सेही कैसे सुतले निचिंत है।
एतना बचन सुनलन बाबा
बान्हि लेले लटपट पाज है।
चलि भेलै आही बाबा उत्तर दखिना दिस।
खोजै धिया जोग बर हैं।

वृद्ध विवाह या अनमेल विवाह

दहेज एक ऐसी कुप्रथा है जो कि अच्छे-अच्छे रिश्तों को तोड़ भी सकता है, और जोड़ भी सकता है। गाँव में जो गरीब लोग होते हैं जिनके पास देने के लिए कुछ भी नहीं है तथा लड़की किशोरी हो गई है तथा गुणवान भी है परन्तु गरीबताई के कारण पिता ये भी नहीं सोचते कि लड़का व द्ध है या उमरदार है और अगर उमर में ज्यादा होगा या उसे दूसरी पत्नी (जैसे एक की मृत्यु किसी कारणवश हो गई) के लिए वह दहेज नहीं माँग करता। इसलिए पिता अपनी आर्थिक स्थिति देखते हुए अपनी बेटी की शादी कर देता है। दूसरा कारण ये भी कहा जा सकता है कि गाँवों में शादी का नाम सुनते ही लड़की शरमा जाएगी वो अपना चयन नहीं बता सकती। पिता को जो पसंद है वहीं शादी होती थी। ना ही कोई लड़की से पूछेगा और ना ही लड़की अपना चयन बता सकती है। इससे भी अनमेल विवाह हो जाता है। पिता सोचता है कि दहेज ना देकर पुत्री ससुराल में ताना ना सुने इससे अच्छा तो वृद्ध से ही जो दहेज का माँग भी नहीं करता उसी से शादी कर बैठता है कि मेरी बेटी ससुराल जा कर राज करेगी।

अनमेल विवाह में वृद्ध विवाह अधिक मायने रखता है। किशोरी अवस्था की लड़की की शादी तो वृद्ध से हो जाती है। लड़की को बाल वर के मिलने से उतना कष्ट नहीं होता जितना वृद्ध वर मिलने से कष्ट होता है। और वो रो पड़ती है। उसके आशियाना पता नहीं आगे चलकर लहलहाएगी या नहीं उसे तो ये भी नहीं पता होता है कि वैधव्य की अग्नि में जलने का दिन तो निकट नहीं आ रहा। उस पति से वो अपनी दिल की बात अथवा प्रेम की बात भी नहीं कर सकती है क्योंकि वो उसकी उम्र से चार गुना या पाँच गुना अर्थात पिता, दादा की उम्र का है और वो भाग्य को कोसने लगती है।

एक लोकगीत में एक युवती की मनोव्यथा का बड़ा ही मार्मिक वर्णन हुआ है। वृद्ध-विवाह का अत्यन्त ही सजीव चित्रण इस गीत में किया गया है। कोई स्त्री कहती है कि मैंने इत्र आदि से सुवासित चन्दन रगड़ पति को लगाने के लिए रखा। किन्तु जब अपने वृद्ध पति को देखती है, जिसके सभी दाँत टूट गए हैं और बाल सफेद हो गए हैं, उसका मन बिल्कुल उदास हो गया-

कथि लगति चनन रगड़ली, इतरता में बसाएली हो
ललना रे कपि
लागि, चढली अटरिया।
कथि देखि इमान भेली हो।
पिया लागि चनन रगड़ली, इतरता में बसाएली हो।
ललना रे, पिया लागि चढ़ली अटरिया।
पियबा के देखि इमान भेलो हो।
पियबा के केस सब पाको गेलै।
दाँत सब टूटी गेलै हो।
ललना रे, सभे रे समैया पियबा के बीतल
होरिला नहीं भेलै है।

वैधव्य

भारतीय हिन्दु समाज में विधवा का जीवन बड़ा ही दयनीय तथा हृदयस्पर्शी होता है। बचपन से ही जब लड़की का जन्म होता है तो वहाँ से ही उसका जीवन कष्टप्रद होना शुरू हो जाता है। जन्म होते ही लोग लड़की को बोझ मानना शुरू कर देते हैं। धीरे-धीरे बड़ी होगी तो लोग कहने लगेंगे कि अब इस लड़की की शादी के लिए पैसा इकट्ठा करो तथा लड़का भी देखना शुरू कर देते हैं। इसलिए पुराने जमाने में लोग गाँवों में बाल विवाह ही कर देते थे। तब खेलने-पढ़ने के दिनों में उसे खाना-बनाना घर का सारा काम काज करना सिखा दिया जाता था और अगर कुछ भी गलती हो जाए तो बचपन से ही

Scanned with CamScanner

उसे ताने सुनने पड़ते थे और अगर शादी के बाद उसके पति की अकाल मृत्यु हो गइ तो जीवन भर वैधव्य का कष्ट झेलना उसके जीवन की सबसे बड़ी सजा है। समाज इतना पर भी नहीं छोड़ती उस विधवा से उसकी सारी इच्छा तथा नारी जीवन की समस्त आशाओं और भावनाओं की बलि दे और ये विधवा के लिए बड़ा की मर्मस्पर्शी है और उसे उस घर की नौकरानी की तरह ही रखा जाता है। सारा काम काज कराने के बाद घर के बुजुर्गों की सेवा करना तथा घर में अगर दूसरों के बच्चों का देख रेख अर्थात अपने गृहस्थ जीवन के बारे में सोचने उसके लिए अपराध के समान है। विधवा को हमारे समाज में बड़ी ही हेय दृष्टि से देखा जाता है। पुराने जमाने में गाँव के अगर किसी शुभ कार्य के लिए निकलते वक्त विधवा दिख गई तो मानो संकट और अकल्याण ही है। शादी विवाह के अवसर पर उसे अपसगुण मानते हैं। यहाँ तक कि प्रातः काल अगर विधवा का दर्शन हो गया तो सारा दिन खराब हो जाता है। समाज में विधवा होनो अभिशाप है। विधवा का कोई जीवन नहीं वो एक जिन्दा लाश की तरह हो जाती है।[3]

माँगिया रोबे छे हो बाबू माँगिया सिन्दूर बिनू।
सेन्दूर मोरा भे गेलै सपनमे रे कि
औखिया जे सेबै हो बाबू औखियां काजर बिनु।
काजर मेरा भे गेलै सपनमे रे कि
बैहिया जे रोबै हो बाबू, बैहिया लहठी बिनु
लहठी मोरा भे गेलै सपमने रेकि
मुखना जे रोबै हो बाबू महमह पान बिनु।
पान मोरा भै गैले सपनमे रे कि।

उपर्युक्त गीत में विधवा का हृदय फूट-फूट कर रोता हुआ दिखाई पड़ रहा है। विधवा के इस करुण एवं हृदयद्रावक विलाप को सुनकर कौन ऐसा पत्थर हृदय वाला व्यक्ति होगा जिसका कलेजा नहीं हिल उठेगा।

19वीं शताब्दी में ही राजा राममोहन राय ने सामाजिक कुप्रथाओं को दूर करने के लिए सुधार-आन्दोलन किया था, जिसमें विधवा-पुनर्विवाह से संबंधित कुप्रथाओं के विरुद्ध सक्रिय आवाज उठाई थी। राजा राममोहन राय के साथ ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने विधवा-विवाह सम्बंधी आंदोलन शुरू किया। उनके प्रयास से सन् 1856 ई० में हिन्दू-विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम पास किया गया। इन्होंने ब्रह्मसमाज की स्थापना कर हिन्दू समाज के सुधारने के लिए विधवा-पुनर्विवाह और स्त्रियों को शिक्षा का समर्थन किया। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'आर्यसमाज' की स्थापना की। इसकी स्थापना का उद्देश्य जाति-पाति के भेदभाव, अन्तर्जातीय विवाह के सम्बंध में प्रतिबन्ध, विधवा पुनर्विवाह पर प्रतिबन्ध आदि के विरुद्ध क्रियात्मक आन्दोलन चलाना था। आर्यसमाजी आदर्शों के अनुसार आज भी भारत के विभिन्न भागों में समाज-सुधार-कार्य चल रहा है। अतः विधवाओं की हृदयस्पर्शी दशा को देखते हुए यौन संबंधी अनाचार, विकास के लिए उनके बच्चों को बर्बादी से बचाने के लिए विधवा-पुनर्विवाह संबंधी समाज सुधार आवश्यक है।[4]

बन्धया कष्ट

बन्धया होना हमारे समाज में एक बहुत बड़ा अभिशाप है। बिहार या हमारे समाज में एक बहुत बड़ी विडम्बना भी है। लड़की जन्म से धीरे-धीरे बड़ी होकर उसकी शादी होती है तो सभी आशीर्वाद में यही शब्द बोलते हैं कि सौभाग्यवती भव या पुत्रवती भव। एक औरत की सबसे बड़ी सफलता माता बनने पर ही मानी जाती है। भारतीय समाज में संतानहीन नारी का कोई महत्त्व नहीं हैं उसे तिरस्कृत दृष्टि से देखा जाता है। गाँवों में या निम्न वर्ग के लोग तो अगर स्त्री बन्धया निकल गई तो पुरुष दूसरा विवाह कर लेता है। हमारे समाज में जिसे संतान नहीं है उसे वंश की प्राप्ति नहीं होती है। शादी के बाद ससुराल वाले अगर एक दो साल में पुत्र का जन्म नहीं होता तो वो मन्दिरों में देवी-देवता से मनता मानने लगते हैं कि भगवान पुत्र दे तो मैं सवा मन लड्डु चढाऊँगी इत्यादि और अगर पुत्र हो गया तो ढोल-मंजीरे से सोहर गाकर गाँवों में हल्ला होता है और अगर पुत्र नहीं हुआ तो छोटी-छोटी बातों के लिए उसे निःसन्तान होने का उल्लाहना मिलने पर भी देर नहीं लगता।

पिअवा एकेगो अमलोलवा तो लगैता कि टिकोलवा
हम चारवते हैं

Scanned with CamScanner

मनसा पैसलि तोहि धनि छेका, धनि दुलरैतिन हैं। धनि एके गो बलकवा तो विऐतिह सोहरवा हम सुनते हैं।

शासन व्यवस्था

भारत देश में शासन व्यवस्था बहुत ही प्राचीन व्यवस्था है और ये वर्तमान काल तक फैली हुई व्यवस्था है और ये गाँव-गाँव तक फैली हुई व्यवस्था है। गाँवों में पंचायत व्यवस्था होती है अगर कोई व्यक्ति कानून तोड़कर अपराध करता है तो उसे पंचायत सजा देती है। ये व्यवस्था होने के कारण व्यक्ति व्यवस्थित जीवन जीता है और अगर अपराध बड़ा हो तो उसे कोर्ट -कचहरी तक ले जाया जाता है और फिर वहाँ सजा सुनाई जाती है। छोटा हो या बड़ा सबके प्रति समान भाव रखना ही शासक का प्रधान उद्देय रहता है। निम्नलिखित गीत में ऐसा ही कुछ कहा जा रहा है-

राजा राजा बढई डाँटी, बढई न खुट्टा चीरे
खुट्टे मे मोरी दाल है
क्या खाऊँ, क्या पीऊँ, क्या लेके परदेा जाऊँ?[5]

Scanned with CamScanner

उपशास्त्रीय संगीत की प्रमुख गायन शैलीः- ठुमरी

मणिकान्त कुमार

ठुमरी हिन्दुस्तानी संगीत का सर्वाधिक लोकप्रिय शैलियों में से प्रमुख गायन शैली है। इस शब्द का प्रयोग इसी रूप में या थोड़ा परिवर्तन के साथ उत्तर भारत के लगभग सभी भाषाओं में प्रचलित है जैसे हिन्दी, पंजाबी तथा गुजराती भाषाओं में ठुमरी, सिंधि ा में ठुमिरि, मराठी में ठुमरी तथा ठुंवरी; नेपाली में ठुमरी तथा ठम्रि, ओर बंगला भाषा ठम्रि आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है[1]। इन सभी शब्दों का जन्म हिन्दी भाषा से ही माना जाता है, क्योंकि ठुमरी का विकास एवं प्रसार हिन्दी के ही क्षेत्र में ज्यादा हुआ तथा सभी पुरानी ठुमरियाँ हिन्दी की ही उपभाषाओं में मिलती है[2]। यह गायन शैली मुख्य रूप से श्रृंगार रस प्रधान होती है। ठुमरी की अवधारणा बार्दो में स्वर, लय और ताल के माध्यम से और गायन में इसके साथ-साथ शब्दों की माध्यम से श्रृंगारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है[3]। इस गायकी का मुख्य विषय श्रृंगार रस एवं नायक-नायिका प्रेम होता है। ध्रुपद गायन में पुरूष के प्रति नारी का प्रेम बहुत कम देखने को मिलता है, ख्याल गायन में थोड़ा ज्यादा तथा ठुमरी शैली में यह प्रेम सबसे अधि ाक देखने को मिलता है।

ठुमरी की उत्पत्ति कब और कैसे वातावरण में हुई, इस प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। प्राचीन काल में 'ठालिका' नामक एक गायन शैली थी जिसमें नृत्य अभिनय एवं गायन की प्रधानता थी। श्रीकृष्ण के काव्य और पद्युम्न नामक दो पुत्रों ने ब्रजनाभ पुरी में ठालिका का ही प्रशंसा की थी। ठुमरी गायन शैली ठालिका का ही देशी रूप है[1]। उसका गायन, नृत्य एवं अभिनय के साथ किया जाता था। बाई लोग, कत्थक और भांड, ये तीनों वर्ग ठुमरी को अभिनय एवं नृत्य के साथ गाते रहें हैं। यह प्राचीन काल से ही अभिनयात्मक, रूपकात्मक संगीत है। यह आंगिक एवं वाचिक दोनों अभिनय के साथ गाई जाती थी[5]। धीरे-धीरे आंगिक अभिनय का प्रयोग कम होते-होते बन्द हो गया और आध ुनिक काल में केवल वाचिक अभिनय के साथ इसका प्रयोग देखने को मिलता है। पहले इस गायन शैली के साथ नृत्य का प्रयोग किया जाता था। जिसमें नृत्य के द्वारा ठुमरी के भाव को व्यक्त किया जाता था। आधुनिक काल में ठुमरी के साथ नृत्य का प्रयोग नहीं के बराबर रह गया है। इसलिए अब इस शैली के गायन में विभिन्न प्रकार के स्वर समूहों का प्रयोग करके गीत के भाव व्यक्त किया जाता है। ध्रुवतारा जोशी के अनुसार- ठुमरी की उत्पत्ति राजा मानसिंह तोमर के द्वारा हुआ। कहा जाता है कि राजा मानसिंह तोमर एक दिन भैरवी राग का गायन कर रहे थे, उसी समय गलती से शुद्ध ऋषभ स्वर का प्रयोग हो गया। विवादी स्वर के प्रयोग से राग अशुद्ध हो गया लेकिन सुनने में अत्यंत प्रिय लगा। इसके साथ ही राग के सौन्दर्य में भी वृद्धि हो गई। उन्होंने कुछ और स्वरों का प्रयोग कुछ और रागों में किया जिससे इसकी सुन्दरता और बढ़ती गई। उन सभी रागों के नामों के आगे उन्होंने 'तँवरी' शब्द को जोड़ दिया जैसे तँवरी भैरवी, तँवरी खमाज, इत्यादि। इसी 'तँवरी' शब्द का अपभ्रंश होते-होते 'ठुमरी' हो गया। किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों को देखने से यह सत्य प्रतीत नहीं होता।

श्री सुनील कुमार बोस के अनुसार 'ठुम' और

शोध छात्र, वि०वि० संगीत एवं नाट्य विभाग, ल० ना० मि० वि० दरभंगा।

Scanned with CamScanner

'री' इन दो शब्दों के योग से 'ठुमरी' शब्द बना है। 'ठुम' शब्द ठुमकत चाल, अर्थात राधाजी की चाल और 'री' शब्द 'रिझावत' अर्थात भगवान श्रीकृष्ण को रिझाने की अभिव्यंजना है[6]।

आचार्य कैलाश चन्द्र बृहस्पति के अनुसार ठुमरी शब्द के दो भाग 'ठुम' और 'री' है। 'ठुम' ठुमकने का द्योतक है और 'री' अंतरंग सखी से अपने अंतर की बात कहने का[7]।

ठुमरी की उत्पत्ति के बारे में अधिकतर लोगों की यह धारणा है कि इसका प्रारंभ अवध के नवाब वाजिद अली शाह के दरबार में 19वीं सदी में हुआ। इनका उर्दू शायरी, नाट्य संगीत, कत्थक नृत्य और ठुमरी गायन के क्षेत्र में विशेष योगदान रहा। उन्होंने 'अख्तर पिया' उपनाम से अनेक काव्य एवं संगीत रचनाएँ की। इन्हीं गुणों के कारण वाजिद अली शाह की प्रसिद्धि एक कुशल कवि, नाटककार, सीगतज्ञ तथा ठुमरी वाग्येकार के रूप में की जाती है। उनके समय में लखनऊ में ठुमरी का विकास बहुत जोर-शोर से हुआ। इसमें संदेह नहीं है कि उन्हीं के शासन काल में यह गायन शैली विकसित एवं लोकप्रिय हो गई। इसके साथ ही, इस शैली का 'ठुमरी' नाम भी उन्हीं के समय में परिलक्षित हुआ।

ठुमरी एक प्रकार का नृत्य गीत भी माना गया है। राधा-कृष्ण की केलि क्रीड़ा से प्रारंभ होकर सामान्य नायक एवं नायिका के रसपूर्ण श्रृंगार तक की अभिव्यंजना ठुमरी गायन शैली में होती है। ठुमरी संगीत की एक भाव-प्रधान शैली है जो पूर्णतः उपशास्त्रीय अंग के अन्तर्गत आती है। ''यह स्वर तथा शब्द के माध्यम से व्यक्त होने वाला लालित्य सम्पन्न भावपूर्ण, रोमांटिक, लास्यमय एवं संगीत का प्रकार है''[8]। इस गायन शैली में स्वर एवं ताल को समाप महत्व दिया गया है। इसकी सांगीतिकता ललित साहित्य से जुड़ी हुई है। बंदिश के शब्दों में निहित अर्थ भाव को स्पष्ट करना ही इस गायन शैली का लक्ष्य है। इस गायन शैली में शब्द-शब्द में रस है, और इसे स्वरों के सहारे सींचा जाता है। संयोग और वियोग श्रृंगार के काव्यात्मक प्ररिपेक्ष्य को साकार करता है। इस शैली में सौन्दर्य सतत प्रवाहित धारा के समान लहराता रहता है। इस संगीत में राग होते हुए भी इसमें शास्त्रीय संगीत के समान कठोरता से प्रयोग नहीं किया जाता है। इसमें जटिल तानों और स्वर विस्तार की बहुलता न होकर गायन की भावमीनी कियाओं जैसे खटका मुर्की, कण, मीड़, जमजमा, गिटकिरी इत्यादि गमकों का प्रयोग किया जाता है जो स्वरों के भाव को साकार एवं सौन्दर्यमयी बनाता है। इस गायन शैली में भावाभिव्यक्ति ही मूल उद्येश्य होने के कारण ठुमरी की लोकप्रियता इतनी बढ़ गई है।

ठुमरी और कत्थक नृत्य के प्रति वातावरण लखनऊ में 19वीं शताब्दी में ही प्रकट हो गया था। मुहम्मद करम इमाम के अनुसार, उस समय ठुमरी गायन की कद्र बहुत बढ़ गया था। ठुमरी के प्रति लगाव के कारण नवाब वाजिद अली के समय ठुमरी गायन शैली के प्रति लगाव अधिक होने के कारण इसका प्रचार-प्रसार अधिक हुआ। अगर नृत्य की दृष्टि से देखा जाए तो कत्थक नृत्य का सबसे प्राचीन घराना लखनऊ को ही माना जाता है। कत्थक नृत्य के गायन के लिए ख्याल गायन शैली उपयुक्त नहीं थी। इसका कारण यह था कि ख्याल गायन शैली गम्भीर प्रकृति का होता है जिससे नृत्य में इसका प्रयोग होने से उसका चंचल स्वभाव उजागर नहीं हो पाता। इसलिए इस नृत्य के अनूकूल गायन शैली के लिए ठुमरी गायन शैली का निर्माण किया गया होगा। बाद में धीरे-धीरे ठुमरी गायन शैली स्वतंत्र गायन शैली के रूप में उभर कर सामने आयी। उस समय देश भर के संगीतकार लखनऊ के ठुमरी गायकों से ठुमरी सीखना गौरव की बात समझते थे। लखनऊ में ठुमरी कलाकारों के गान प्रयोग से ठुमरी का एक विशेष रूप उभर कर सामने आया जिसपर ब्रज, अवधी, उर्दू भाषा के साथ-साथ इस युग की नवाबी विलासिता का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

वर्तमान समय में ठुमरी गायन के प्रति लोगों की रूची इतनी बढ गई है कि संगीत सभाओं और सम्मेलनों में श्रोता कार्यक्रम के अन्त में ठुमरी गायन की प्रदर्शन की उम्मीद करते हैं और यदि ऐसा नहीं हुआ तो अनुरोध भी किया करते हैं। ख्याल, ध्रुपद, भजन आदि गायन शैलियों के गायक और वादकों को भी ठुमरी के माधुर्य ने अपने ओर आकर्षित कर लिया है। इसके परिणाम स्वरूप ठुमरी समान

Scanned with CamScanner

बोल-बनाव व स्वर सन्निवेश कण, मुर्की, खटका, की विशेषता सितार वादन में भी स्पष्ट रूप से देखने एवं सुनने को मिलती है। इसके अतिरिक्त वर्तमान नाट्य और फिल्म संगीत में भी इस गायन शैली का खूब प्रयोग किया जाता है। इस शैली का प्रयोग नये-नये गीत के निर्माण के लिए भी किया जाता है।

ठुमरी शैली अपने सुरीलेपन, रसीली और जनसामान्य की सटीकता की स्तंभ करने वाली अपनी काव्यात्मक प्रकृति के कारण सर्वाधिक लोकप्रिय रूप धारण कर चुकी है। यह एक भाव प्रधान तथा चपल ताल वाली गायन शैली है जिसको आजकल शास्त्रीय गायक भी महत्वपूर्ण स्थाल दे रहे हैं।

डॉ. शशि प्रभा अग्रवाल के अनुसार- यद्यपि संगीत शास्त्र के विद्वानों ने ठुमरी को सदा निम्न कोटि का गायन माना है, किन्तु वस्तुतः ठुमरी ने रागों के कठिन बंधन को मुक्त करके मानवीय संवेदनाओं को सही अर्थ में छूने का प्रयास किया है एवं उसे काव्यमय अनुभूतियों से सुदृढ़ कर सर्व साध ारण के लिए ग्राह्य बनाया है[9]।

पंडित विष्णुनारायण भातखंडे ने भी ठुमरी शैली को एक निम्न श्रेणी का गायन शैली माना है। उन्होंने क्रमिका पुस्तक मालिक भाग-4 में कहा है कि- ठुमरी को भी एक शुद्र गीत ही माना जाता है। जिस कारण उच्च कोटि के गायक लोग इसे निम्न कोटि का गायन कहते हैं।

कारण चाहे जो भी हो लेकिन आधुनिक समय में ठुमरी गायन के सम्बन्ध में इस तरह की कोइं शब्द सुनने को नहीं मिलता है। इस समय प्रत्येक कोटि के गायक कलाकार बहुत ही कुशलता के साथ ठुमरी का गायन करते हैं।

इस गायन-शैली के गायन के लिए पूर्ण लगन से रियाज की आवश्यकता होती है। जब तक गायक के गले में घुमाव और मधुरता नहीं होगी तब तक इस गायन शैली का गायन करना सम्भव नहीं है। ठुमरी गायक को अपने आवाज पर पूर्ण नियंत्रण रखना पड़ता है। जिस प्रकार एक गुलदस्ते में अनेक प्रकार के फूल सजाए जा विभिन्न प्रकार के अलंकारों को सजाएँ जाते हैं जो गीत में रस की उत्पत्ति करते हैं।। यह गायन शैली एक ऐसा गीत का प्रकार है जिसे आधुनिक समय में महाफिल के अधिकांश श्रोता इसे पसन्द करते हैं। साधारण श्रोता भी इस गायन शैली को सुनकर आनंदित होकर झूम उठते हैं। अनेक पुस्तकों के अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि ठुमरी के प्रचार व प्रसार में जिन व्यक्तियों ने अपना योगदान दिया उसमें लखनऊ के वाजिद अली शाह व उनके दरबारी गायक उस्ताद् सादिक अली खां आदि का नाम प्रमुख रहा है।

संदर्भ सूची:-

1. शुक्ल डॉ. शत्रुघ्न, ठुमरी की उत्पत्ति विकास एवं शैलियां, पृ. 04
2. वही, पृ. 01
3. कारवल, श्रीमती लीला, ठुमरी परिचय, पृ. 15
4. वही, भूमिका से
5. वही,
6. शुक्ल डॉ. शत्रुघ्न, ठुमरी की उत्पत्ति विकास एवं शैलियां, पृ. 05
7. बृहस्पति, आचार्य, संगीत चिंतामणि, पृ. 83
8. कुमार, डॉ. अरविन्द, उपशास्त्रीय संगीत के आयाम, संगीत पत्रिका, मई 2005, पृ. 55
9. गर्ग, लक्ष्मी नारायण, संगीत निबंधावली, पृ. 172
10. भातखंडे, पंडित विष्णु नारायण, क्रमिक पुस्तक मालिका भाग, 4, पृ. 301

Scanned with CamScanner

उपशास्त्रीय संगीत पर शास्त्रीय संगीत का प्रभाव

रूबी कुमारी

भारतीय संगीत के दो रूप- एक शास्त्रीय व दूसरा लौकिक अनादिकाल से प्रचलित है। इन दोनों प्रकारों का स्वरूप वैदिक काल में ही निर्धारित हो चुका था। शास्त्रीय संगीत' संगीत का वह रूप है, जिसमें गाने की कलात्मकता व एक विशेष पद्धति से सम्बद्धता होती है। यह एक अनुशासित संगीत प्रणाली हैं, जिसमें शास्त्र के नियमों का बन्धन हैं दूसरी ओर लौकिक संगीत में ऐसे गीतों की गणना हैं, जो स्वेच्छा से सामाजिक अवसरों पर सबके मनोरंजन एवं भाषों की अभिव्यक्ति के लिए गाये जाते है[1]। शास्त्रीय एवं लौकिक संगीत के अतिरिक्त आज एक और प्रकार जो शास्त्रीय व लोक संगीत का मिश्रित रूप हैं, उपशास्त्रीय के नाम से जाना जाता है। 'राग' भारतीय शास्त्रीय संगीत का महत्वपूर्ण तथा प्रधान विषय हैं, जिसका सम्बन्ध सौंदर्य से जुड़ा हुआ हैं। वास्तविक रूप में, भारतीय शास्त्रीय संगीत में शब्द की प्रधानता न होकर स्वर की प्रधानता होती हैं। राग पर आधारित शास्त्रीय संगीत की एक विशेषता तान है, तो कला प्रदर्शन से अत्यन्त आवश्यक है। आज उपशास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में 'ठुमरी' एक विकसित और आकर्षक गेय विधा के रूप में हमारे सामने आई हैं। संगीत के लोक और शास्त्र दोनों रूपों का इसमें समावेश हुआ हैं, इसलिए ठुमरी की शास्त्रीय को शास्त्रीय और लोक-संगीत के बीच की कड़ी मानते हुए इसे 'उपशास्त्रीय' या लाइट-क्लासिकल (Light-Classical) गीत भेद के रूप में वर्गीकृत किया जाता है[2]। हम यह निर्विवाद कह सकते हैं कि 'ठुमरी' शास्त्रीय-संगीत विशेषकर ख्याल की कलात्मक शैली से प्रभावित हुई है और इसी की बदौलत हीन समझा जाने वाला यह गायन प्रकार अपने विकास की चरमावास्था में पहुँच गया। बनारस की विख्यात बोल-बनाव की ठुमरी में सिद्धहस्त गायिका सिद्धेश्वरी देवी ने स्पष्ट शब्दों में कहा हैं- Although my Thumri Singing is fully of the 'Banaras-ang', I incorporate elements of the khayal-into it. You may say my Thumri singing is Khayal-ang-pradhan." सभी शैलियों की मार्दव, कोमल एवं आनन्दवर्धक अभिव्यक्तियों को अपने में समेटे हुये ख्याल विधा ने ठुमरी-गायकों पर गहरा प्रभाव डाला है। सुशीला मिश्रा ने ख्याल और रागों की उच्चतम तालीम लेने वाली बेगम अख्तर के ठुमरी गायन में जो लालित्य और आकर्षण का संचार हुआ, उसका वर्णन करते हुए कहा है- 'The Sound training in Khayal and Ragas that Begum Aktar had received specially from Ustad Whahid Khan was what made her singing of thumri, Dadra and Gazals so colourful, She used to sing the same thumris. Dadras and Gazals indifferent ragas at different times according to the occasion and mood of the moment. श्रृंगार की भावना मनुष्य मात्र में स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहती है और आदि काल से ही मानव समाज के लिए महत्वपूर्ण रही है। इसीलिए ललित कलाओं में भी विशेषतः संगीत में श्रृंगारात्मक गान- विधाओं का प्रचलन रहा है। कजरी' हिन्दुस्तानी की एक लुभावनी शैली है, जो सोधी, सरल धुनों में

शोध छात्रा, वि0वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0 ना0 मि0 वि0 दरभंगा।

Scanned with CamScanner

तथा दादरा कहरवा जैसे तालों में गायी जाती हैं[4]। समय के साथ यह खटका, मुर्की छोटी-छोटी तानें, बोल-आलाप आदि से अलंकृत होकर और एक नया आकर्षण रूप धारण करके हमारे सामने आई हैं बनारस के विख्यात ठुमरी गायक पं० महादेव प्रसाद मिश्र तथा गिरिजा देवी, सिद्धेवरी देवी, रसूलन बाई, शोभा गुर्टू- जैसी सुप्रसिद्ध गायिकाओं ने खमाज, काफी, भैरवी, पीलू आदि सरस रागों में कजरी के परम्परागत सरल गीतों को अपनी सौन्दर्यपूर्ण कल्पनाओं से सजाया-सवाँरा[5]। ख्याल की परिकल्पना भी कई स्तरों पर नजर आती है। एक ओर टप्पा-गायन ने ख्याल में आने वाले तान प्रकारों को अपनाया है, तो दूसरी और ख्याल गायकों ने टप्पे पर आधारित नई-नई ख्याल-रचनाएँ की हैं, जिन्हें टप-ख्याल के नाम से जाना जाता है। 'चैती', कजरी की ही भाँति एक अत्यन्त मधुर और रँगीली, प्रचलित गायन शैली है। चैती का शास्त्रीय रूप मुख्य रूप से ठुमरी में ही प्रस्फुटित होता है, इसीलिए, चैती, ठुमरी में गाए जाने वाले रागों में ही गाई जाती है। जहाँ एक ओर हमें चैती में रस-भाव से युक्त ठुमरी का आस्वादन मिलता है, वहीं दूसरी ओर ध्रुपद-धमार जैसी शास्त्रीयसंगीत की शैली में गाई जाने वाली चैतियों में शास्त्रीय संगीत की छाया स्पष्ट नजर आती है। नाट्य संगीत का पोषण संगीत का पोषण संगीत की प्रायः सभी विधाओं द्वारा हुआ है, परन्तु 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उपशास्त्रीय संगीत का विकसित रूप महाराष्ट्र में दिखाई दिया। प्रस्तुत विवरण से यह स्पष्ट है कि अपना स्वतन्त्र आस्तित्व रखने वाली उपशास्त्रीय संगीत की विभिन्न विधाओं पर शास्त्रीयसंगीत के प्रभाव का परिणाम आज सर्वविदित है। राग संगीत की सृजनात्मकता, इसमें अन्तर्निहित भाव-निर्माण क्षमता और शब्दातीत आनन्द का प्रसार करने के गुण को आत्मसात् करने में ठुमरी, टप्पा, दादरा, कजरी, चैती, आदि गाने वाले संगीत-साधक कभी पीछे नहीं रहें। राग का सृजन बुद्धिवादी, प्रभुतव सम्पन्न एवं सौन्दर्योन्मुख संगीतकारों द्वारा हुआ है। 'राग' संगीत-रूपी समुद्र के मन्थन उपलब्ध अमृत सदृश है, जो किसी विशिष्ट वर्ग-मात्र के लिए नहीं है वह केवल शास्त्रीय संगीत तक ही सीमित नहीं है, अपितु उपशास्त्रीय संगीत में भी उसका उतना ही अस्तित्व है।

संदर्भ सूची :-

1. सहगल, डॉ. सुधा, बेगम अख्तर व उपशास्त्रीय संगीत, पृष्ठ संख्या-3
2. द्विवेदी, डॉ. पूर्णिमा, ठुमरी एवं महिला कलाकार, पृष्ठ संख्या-24
3. उपशास्त्रीय संगीत अंक, जनवरी 2003, पृष्ठ संख्या-11
4. इण्टरनेट,
5. वही,
6. पैन्तल, डॉ. गीता, पंजाब की संगीत परंपरा, पृष्ठ संख्या-128

Scanned with CamScanner

आधुनिक कालीन समाज एवं संगीत

डॉ० मधु कुमारी

संगीत के अनेक चिंतकों ने आधुनिक भारतीय समाज को संगीत से जोड़ते हुए माना है कि बीसवीं शताब्दी भारतीय संगीत का संक्रमण काल रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी तक भारतीय संगीत राजदरबारों की सीमा एवं घरानों में कैद था। और प्रारंभ के कुछ वर्ष भारत के स्वतंत्रता आंदोलन में सहयोग देने के कारण पल्लवित और पुष्पित नहीं हो पाए। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत वर्ष में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। देश के प्रत्येक क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुआ। प्रजातंत्र की स्थापना हुई, जिससे देश की राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक स्थिति में भी बदलाव आए। इन परिवर्तित परिस्थितियों के बीच भारतीय संगीत का भी आधुनिकीकरण हुआ जिसके परिणाम स्वरूप शास्त्रीय संगीत ने एक नई करवटे लीं।

स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना एवं राजनैतिक एकता स्थापित हुई। छोटी-छोटी रियासतों का विलीनीकरण हुआ और इनके स्थानों पर एक सुदृढ़ राज्य की स्थापना हुई। मि० विम वैनडर मीर ने इस बात का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 1947 के बाद कुछ राजाओं ने अपनी स्वतंत्रता कायम रखने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहे। स्वतंत्र अधिकार समाप्ति के उपरांत भी कुछ राजाओं ने संगीत के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया, जिसमें ग्वालियर के राजा सिंधिया, बड़ौदा के महाराजा सियाजीरावए रामपुर के नवाब हामिद अली खाँ, बिहार के बेतिया के राजा, दरभंगा के राजा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। फलस्वरूप संगीत राजदरबारों के संकुचित दायरों से निकला और जनसाधारण से सीधा सम्पर्क एवं संबंध स्थापित किया। वह सम्पर्क जो प्राचीनकालीन गुरूधर आश्रमों के बाद मंदिरों में आध्यात्मिक परंपरा पर कायम थी तथा ईश्वरीय साक्षात्कार का माध्यम थी कालांतर में राज घरानों एवं दरबारों में विलासिता और राज-रजवाड़ों के स्तुतिगान में पारंगत, नवाबों के भोग एवं आमलोगों द्वारा तिरस्कृत हो चारदिवारी में बंद थी सीधे सहृदय रसज्ञ जन-मानस के बीच सुलभ हो गई। लोकतंत्र की स्थापना के साथ आकाशवाणी दूरदर्शन, पत्र-पत्रिकाओं जैसी चीजों के आवा-गमन से संगीत का प्रचार व प्रसार दूर-दूर तक हुआ जिससे जनता में सीधे संगीत के प्रति जागृति आई। आकाशवाणी, दूरदर्शन के माध्यमों ने सभी प्रकार के संगीत को एक जगह ला इकट्ठा किया और एक साथ सभी को सुनने की सुविधा प्रदान की। संगीत के इतिहास में यह एक क्रांतिकारी घटना थी। संचार के माध्यमों ने घरानों के बंधनों से निकलकर समाज में संगीत आमवर्गों में प्रतिष्ठत और लोकप्रिय में चार चाँद लगा दिये। फिल्मी संगीत निर्देशक, गायक तथा गीत-रचनाकार ने ऐसी कर्णप्रिय और लोक आस्था एवं संस्कृति से जुड़े धुन एवं बोल तैयार किये और लिखे कि संगीत उच्च से उच्च तथा निम्न से निम्न तबकों के जीवन सहचर्य का माध्यम बन गया। पत्र-पत्रिकाओं में संगीत लेख, सामग्री आदि प्रकाशित कर संगीत के सैद्धांतिक पक्ष से जनता को अवगत कराया।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद के भारतीय चिंतन पद्धति एवं सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश डालने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन भारतीय युग

पूर्व शोधछात्र, वि०वि० संगीत एवं नाट्य विभाग, ल० ना० मि० वि० वि०, दरभंगा

Scanned with CamScanner

सामाजिक संक्रमण के दौर से गुजर रहा था। सामाजिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आमूल-चूल परिवर्तन और क्रांति का शंखनाद हो चुका था। आजादी के साथ ही हमारे नेताओं, समाज-सुधारकों जननायकों ने सामाजिक अंधविश्वास, कुरीतियों के विरूद्ध आवाज उठाई थी, जिसमें पर्दा प्रथा अशिक्षा बाल विवाह, सती प्रथा, मूर्ति-पूजा, जाति प्रथा जैसी कुरीतियों व मंत्र-तंत्र, जादू-टोने जैसे अंधविश्वासों की जड़ों को उखाड़ फेंकने के लिए कमर कस ली थी। संगीत कला का उपयोग भी इसी आंदोलन को सफल बनाने के लिए किया गया था। संगीत जन आकर्षण एवं प्रचार-प्रसार के लिए सबसे सरल और सहज माध्यम माना गया है। मनुष्य की जन्म जात प्रवृति है कि वह आनंद की प्राप्ति के नये-नये तरीके निकालता है। भगवान द्वारा जाति को दिये गए सबसे प्रमुख वरदानों में संगीत सर्वप्रथम है। मनुष्य स्वभावगत तथा सामाजिक परिवेश एवं चिंतन के फलस्वरूप जन्म से मृत्यु - पर्यन्त सुख-दुख को संगीत की स्वरलहरियाँ में प्रवाहित कर लेता है। जिसके कारण देशभक्ति के गीतों से जन चेतना एवं स्वतंत्रता आंदालेन का आधारभूत स्तम्भ निःसंदेह संगीत है।

बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक संगीत व नृत्य वेश्याओं व कोको की वस्तु समझी जाती थी। संभ्रांत परिवार की महिलाएँ संगीत नहीं सीखाकरती थीं यदि सीखी भी तो सिर्फ घर की चार दिवारी तक सिमट कर रह गयी। कुलीन घराने की लड़कियों के बारे में संगीत शिक्षण की बात सोचना भी नैतिक अपराध की श्रेणी में आता था। इसका मुख्य कारण था कि उत्तर भारतीय संगीत की बंदिशों के साहित्य में मानवीय व्यवहार के विभिन्न भावों का प्रकट न होना आम बात थी, जिसमें श्रृंगार की और श्रृंगार रस की अधिकता दिखाई देती है। समाज में इस बात को पुष्ट किया गया कि यह कल्पनाएँ हमारी हीन अभिरूचि को दर्शाती है क्योंकि भद्र समाज ने ही हमारे संगीत और संगीतज्ञों को बहिष्कृत किया।

फलस्वरूप संगीत आध्यात्मिक परम्परा से विलग हो मनोरंजन तथा विलासिता का साधन मात्र बन गया। परंतु धनाड्य मध्यवर्गीय समाज के उदय के पश्चात संगीत जो कि निम्न स्तरीय वस्तु समझी जाती थी उसे उच्च दृष्टि से पुनः देखा जाने लगा। संगीत की प्रतिष्ठा को पुर्नस्थापित करने में आधुनिक भारत के दो महान संगीतविद धर्मपरायण ब्राह्मण मनीषी चिंतक पं० श्री विष्णुनारायण भारतखण्डे जी एवं पं. श्री विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने काफी योगदान दिया। यह इन्हीं दोनों संतों का परिणाम है कि संगीत की नई स्वरलिपि पद्धति एवं बंदिशों ने पुनः भारतीय शाश्वत परम्परा, प्राचीन कालीन संगीत-चिंतन की आध्यात्मिक पद्धति को फिर से आमजन में पहुँचाया।

संगीत की लोकप्रियता एवं संगीत के प्रति जनमानस का लगाव के फलस्वरूप संगीत के आश्रय दाताओं की संख्या बढ़ती गई क्योंकि वह धनाढ्य वर्ग संगीत को प्रोत्साहन देने में काफी रूचि रखने लगा। धीरे-धीरे संगीत को समाज में बहुत बढ़ावा भी मिला और संगीत उच्च स्थान पर का बिज हो गया जिसके कारण संगीत-कला में निपुण होना एक अतिरिक्त ईश्वरीय प्रदत्त योग्यता समझी जाने लगी। मध्यवर्गीय तथा उच्चवर्गीय परिवार में संगीत-शिक्षण का प्रचार प्रसार हुआ।

संगीत शिक्षा के क्षेत्र में भी स्वतंत्र भारत में अनेक कार्य हुए। राजा-महाराजाओं के प्रथम तथा घरानेदार उस्तादों की वंश-परम्परा के सीमित दायरों से निकल संगीत ने स्कूल कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में स्थान प्राप्त किया। शिक्षा के क्षेत्र में भी नवजागरण एवं संगीत की गरिमा को कायम रखने में वही दो महान उत्तर भारतीय ब्राह्मण विभूति पं० विष्णु नारायण भातखण्डे और पं० विष्णु दिगम्बर पलुस्कर जी का ही योगदान है। उन्होंने संगीत की दुर्दशा को महसूस किया और कठोरतम परिश्रम से प्राप्त विद्या को समाज में प्रतिष्ठा दिलवाने हेतु अनेक संघर्ष किये। इनके अथक परिश्रम के फलस्वरूप संगीत शिक्षा के क्षेत्र में बहुत उन्नति हुई। अनेक नवीन शालाओं का निर्माण हुआ। अध्ययन, मनन व चिंतन ने संगीत की घरानेदार और मध्यकालीन परम्परा के जकड़न को तोड़ने में सहायता पहुँचाई। श्री के० पी० मुखर्जी इस बात का समर्थन करते हुए कहते हैं कि "स्वतंत्र भारत में हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत भी स्वतंत्र हुआ, या यूं कहें कि शास्त्र की जकड़नों से मुक्त होने का उसने प्रयास किया। लोगों ने संगीत के प्रति

Scanned with CamScanner

एक उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया।

संकुचित मनोवृत्ति में परिवर्तन के फलस्वरूप संगीत की समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के कारण और दिनों दिन बढ़ती हुई लोकप्रियता के कारण देश के विभिन्न शहरों में संगीत समारोहों सभाओं, विचार गाष्ठियों और संगीत की प्रतियोगिताओं के आयोजन में वृद्धि हुई। नए-नए कलाकारों वन अभ्युदय हुआ। श्रोताओं की संख्या में वृद्धि हुई। समाज में सांगीतिक कार्यक्रमों में जाना अब सुसंस्कृत होने का प्रमाण समझा जाने लगा। लोग अपने घरों की महिलाओं को संगीत की शिक्षा दिलवाना सम्मान की बात समझने लगे।

Scanned with CamScanner

संगीत शिक्षा में कंठ साधना का महत्त्व

अर्चना कुमारी

सुमधुर गायन के लिए संगीत में कंठ साधना एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं। गायन कला का माध्यम ही आवाज होता है। अतः गायन कला को खुबसूरत बनाने में एक अच्छी आवाज का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। कंठ संस्कार या कंठ साधना को अंग्रेजी में 'वॉयस कल्चर' (Voice Culture) कहते है। इसकी परिभाषा के लिए कहा गया हैं "Properly trained Voice which is useful for music" अर्थात संगीतोपयोगी परिष्कृत आवाज। मनुष्य की आवाज कैसी भी हो (मोटी, पतली, कर्कश आदि) उसे उचित साधना और संयम के द्वारा सुरीला और आकर्षक बनाया जा सकता है।

हमारे आजकल के संगीत में कंठ साधना पर विशेष बल नहीं दिया जाता है। इस विषय का साहित्य भी बहुत कम मिलता है और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस विषय का अध्ययन भी नहीं के बराबर होता है। परन्तु अब इस नवीन दृष्टिकोण से भी संगीत का अध्ययन होना चाहिए।

वैदिक काल में जब छोटे बच्चों को वेदपाठ की शिक्षा दी जाती थी तो उसी के माध्यम से बच्चों का कंठ स्वतः संस्कारित हो जाता था। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित स्वरों के प्रयोग द्वारा उच्चारित किए जाने वाले मंत्र तभी सार्थक होते थे जब उन्हें निश्चित ध्वनियों पर, निश्चित परिमाण में और निश्चित वलय धातों द्वारा प्रयुक्त किया जाए, इसीलिए उस काल में कंठ संस्कार का कोई अलग शास्त्र विकसित करने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

हिन्दुस्तानी संगीत में 'कंठ साधना' की परंपरागत रीति चली आ रहीं है, वह अधिकतर अनुकरण पर आधारित है। हमारे यहाँ आवाज निर्मिति की प्रक्रिया अधिकतर प्रायोगिक ढंग की होती है। गुरू जिस प्रकार से आवाज लगाते है शिष्य भी ठीक उसी प्रकार उनका अनुकरण कर अपनी आवाज को वैसे ही निकालने की कोशिश करता है। अर्थात् प्रत्येक शिष्य अपनी कुदरती आवाज की सहायता से गुरू की आवाज की नकल उतारता है। गुरू अपने शिष्य को कुछ नियम बताते है जैस-खर्ज साधना, खुली आवाज लगाना, तीनों सप्तकों में रियाज करना, शब्दों का स्पष्ट रूप से उच्चारण करना, दमसाँस बढ़ाने के लिए स्वर को दीर्घ लंबा करना आदि।

भारत के विभिन्न संगीत घरानों में अलग-अलग ढंग से कंठ संस्कार की परम्पराएँ विकसित हुई है। जैसे-

1. किराना घराना में आवाज की मिठास कायम रखने के लिए खुली हुई आवाज की अपेक्षा कृत्रिम आवाज लगाने पर जोर दिया गया।

2. आगरा घराना में ध्रुपद-धमार का प्रचार अधिक होने के कारण दमदार आवाज पर विशेष ध्यान दिया गया है। इसलिए वे नोम्-तोम् और लंबी साँस पर विशेष ध्यान देते हैं।

3. ग्वालियर घराना में षड्ज-साधना और गायकी में प्रयुक्त आलापचारी, बंदिशो एवं तानों की प्रकृति के अनुसार कंठ साधना की आधुनिक तकनीक का इस्तेमाल होता रहा है।

4. जयपुर घराने में लयकारी की प्रधानता होने के कारण विभिन्न लय के पलटों का अभ्यास कराया जाता है और उसी से आवाज में खासियत पैदा की जाती रहीं है।

एम फील, नेट, मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई

Scanned with CamScanner

एक प्रकार से जितने घराने बने उतनी ही कंठ संस्कार की पद्धतियाँ विकसित होती गई।

तेरहवीं शताब्दी के लगभग पाश्चात्य जगत में ध्वनि की विविधता और उसके विज्ञान पर विशेष ध्यान दिया गया है। पाश्चात्य देशों में कंठ-साधना पर बहुत विचार किया गया हैं और किसी भी आवाज को प्रशिक्षित करने के लिए वहाँ बड़े वैज्ञानिक ढंग से परिश्रम किया जाता है तथा यह निर्धारित भी किया जाता है कि कौन सी आवाज किस गान पद्धति को अपनाने के लिए उपयुक्त रहेगी।

कंठ साधना के साथ कंठ माधुर्य पर ध्यान देकर अलग-अलग आवाजों को संगीत के उपयुक्त विद्याओं के योग्य बनाया जाए तो उन विद्याओं के प्रचार के साथ-साथ संगीत की लोकप्रियता में भी वृद्धि होगी।

पश्चिमी देशों में संगीतकार और वैज्ञानिक दोनों ने मिलकर गायन से संबंधित सूक्ष्म तत्त्वों का अध्ययन किया और 'वाइस कल्चर' नामक एक नए विचार को जन्म दिया। हमारे यहाँ अभी भी 'वाईस कल्चर' के बारे में बहुत कम लोगों को जानकारी है जिसके कारण यहाँ के संगीत का पूर्ण विकास नहीं हो पा रहा है। कंठ साधना एक शास्त्र, एक तकनीक है जो आवाज को पैदा करने से संबंधित है। शरीर की बनावट की दृष्टि से आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगों के द्वारा आवाज निर्माण में कौन से अवयव, स्नायुयों का उपयोग होता है। इसके अध्ययन से यह कंठ साधना शास्त्र बना है। यह शास्त्र इस बात को नहीं मानता कि पूर्वी एवं पश्चिमी संगीत पद्धतियों में आवाज पैदा करने की अलग रीतियाँ है। शरीर शास्त्र कों ध्यान में रखकर इस शास्त्र का निर्माण हुआ है। मनुष्य के आवाज पैदा करने के संदर्भ में सोच विचार के बाद यह शास्त्र बना है।

संगीत पद्धति चाहे कोई भी रहे, उसमें प्रयोग में आने वाली आवाज को मानव की शरीर रचना का अध्ययन करने के पश्चात् किस प्रकार से कंठ से उत्पन्न किया जाए इसका विचार इस कंठ साधना शास्त्र में किया गया है। अपनी कुदरती आवाज द्वारा अपने प्रिय कलाकार का संगीत प्रस्तुत करना यही इस शास्त्र का प्रधान स्वरूप है। कुदरती का अर्थ यहाँ यह है कि आवाज को पैदा करते समय शरीर के जिन अवयवों को हम प्रयोग में लाते है उन्हे एकदम स्वाभाविक ढंग से लाएँ। उन अवयवों को सहज ढंग से कार्य करना सिखाना यह इस शास्त्र का कार्य रहता है। मुख्य विचार यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवाज में गाना चाहिए न कि किसी दूसरे व्यक्ति की आवाज की नकल उतारना चाहिए। नकल करने से व्यक्ति अपना व्यक्तित्व खो बैठता है। कंठ साधना का कहना है कि अपने सांगीतिक गुणों को बढ़ाने के लिए दूसरों के सांगीतिक विचारों को अवश्य स्वीकार करना चाहिए किन्तु इसके लिए उसकी आवाज की नकल करके अपने शारीरिक कार्य की हानि नहीं होनी चाहिए।

इस शास्त्र के विषय में साधारण रूप से तत्त्व चर्चा के बाद अब हम यह देखेंगे कि इस शास्त्र में किन मुद्धों के विषय में चर्चा की जाती है तथा प्रयोगों द्वारा कौन-कौन सी सिद्ध हुई बातों का जिक्र इस शास्त्र में होता है।

पहली बात तो यह है कि परमात्मा ने सभी को आवाज की देन प्रदान की है। हर एक व्यक्ति के पास अपनी आवाज होती है। इसमें कंठ साधना शास्त्र यह विश्वास पैदा करती है कि सांगीतिक संस्कार मिलने पर प्रत्येक व्यक्ति गा सकता है।

दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य आवाज निर्माण के संदर्भ में यह मत है कि अपने अवयवों स्नायुओं का उचित प्रयोग करके न्यूनतम प्रयासों के द्वारा अधिकतम असर पैदा किया जा सकता हैं। कंठ साधना शास्त्र का मुख्य तत्त्व यही है कि आवाज निर्माण करने के लिए उपयुक्त सभी अवयवों का समन्वय साधा जाए। इस प्रकार से सधी आवाज को ही इस शास्त्र में अच्छी आवाज माना जाता है।

तीसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि अच्छी आवाज निकालने के लिए शरीर के जिन अवयवों का असल में प्रयोग आवश्यक माना गया है वह हैश्वास एवं उच्छ्वास के अवयव, स्वर यंत्र को आंदोलित करने वाले स्वर तंतु जहाँ उसे हिलाकर आवाज पैदा करते है वह विशिष्ट अवयव एवं अनुवादक - इन तीन स्थानों के समन्वय द्वारा पैदा हुई आवाज स्वाभाविक होती है एवं उचित ढंग से पैदा होती है। वही कंठ साधना का तत्त्व है। इन तीन अवयवों का उचित समन्वय करने की तकनीक को सीखना ही कंठ साध

Scanned with CamScanner

ना करना है।

उदरपटल को साँस लेने और छोड़ने के लिए काम में लाना कंठ साधना में महत्त्वपूर्ण होता है।

इस शास्त्र के द्वारा स्वर यंत्र को शिक्षित कर आवाज की पहुँच का अभ्यास बताया जाता है। कंठ साधना में उपरी एवं निचला दो ही रेंज माने गए है। एक से आवाज की पट्टी बनती है और दूसरे से आवाज को बल प्राप्त होता है। इन दोनो स्तरों को विकसित करने की तकनीक इस शास्त्र के द्वारा सीखी जा सकती है।

इस शास्त्र में योग्य तरीके से आवाज पैदा करने के लिए उस व्यक्ति में कौन सी बात की कमी है, कौन से स्नायुओं को विकसित करना होगा, कौन से देश है, किस प्रकार से सही कार्य होगा, इन सब बातों पर विचार करके उस व्यक्ति का मार्गदर्शन किया जाता है।

निष्कर्ष:-

इस शास्त्र का जो आधुनिक ढंग से विकास हुआ है और जो दृष्टिकोण प्रचलित है उसके विषय में जानकारी देने के लिए मैंने यह विवेचन किया है। संगीत शिक्षा में इस विषय को समाविष्ट कर लेने से हमारे बहुत से कष्ट कम हो जाएगें। इस शास्त्र का अध्ययन कर और उसे अपने संगीत में सम्मिलित कर हम अपने गायन को और अधिक आकर्षक और मधुर बना सकते हैं। इस उपेक्षित विषय की ओर कलाकारों और संगीत शिक्षकों का ध्यान आकर्षित करना ही मेरे इस लेख का उद्देश्य हैं। संगीत शिक्षा में नए विचार लाकर संगीत कला का विकास करना ही हमारा उद्देश्य है। इसी हेतु मैंने यह तात्विक चर्चा की है।

संदर्भ:

1. नाद चिंतन :- पं० वि० रा० आटवले,
   संस्कार प्रकाशन, प्रथम संस्करण
   पृ० सं० - 62
   पृ० सं० - 63
   पृ० सं० - 64
   पृ० सं० - 65
   पृ० सं० - 66
   पृ० सं० - 67
2. संगीत विशारद :- बसंत - संगीत कार्यालय
   हाथरस प्रकाशन, चौवीसवा संस्करण 2002
   पृ० सं० - 600
   पृ० सं० - 601
   पृ० सं० - 602
   पृ० सं० - 603
   पृ० सं० - 604
   पृ० सं० - 605
   पृ० सं० - 606
   पृ० सं० - 607
   पृ० सं० - 608
   पृ० सं० - 609
   पृ० सं० - 610
   पृ० सं० - 611
   पृ० सं० - 612
   पृ० सं० - 613
   पृ० सं० - 614
   पृ० सं० - 615
   पृ० सं० - 616

Scanned with CamScanner

भारतीय संगीत का इतिहास -लेखन बोध

डॉ॰ अंकिता कुमारी

इतिहास का उद्देश्य : अतीत के यथार्थ को प्रकट करना, अतीत का उसी रूप में पुनर्निर्माण करना, जैसा वह था तथा अतीत के लिए ऐसे दर्पण की भाँति कार्य करना कि उसका सत्य प्रतिबिम्बित हो सके। "इतिहास-लेखन के उद्देश्य और उसके उपयोग एक समय से दूसरे समय और एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में अलग-अलग रहे हैं।"[1]

इतिहास में कोई भी उपलब्धि अंतिम नहीं होती कोई भी इतिहासकार कितने भी दीर्घकाल तक तथा लगन से कार्य क्यों न करे, वह यह कभी नहीं कह सकता कि इस विषय पर उसका कार्य अंतिम है।

संगीत के इतिहास को बार-बार पढ़ने, समझने व उसपर चिंतन करने के पीछे भी यही तर्क है कि भारतीय संगीतेतिहास के विकास की मौलिक परंपरा से साक्षात्कार कर उसके विकास की त्वरा व दिशा को वांछित रूप से प्रभावित किया जा सके। परन्तु देखना ये है कि ज्ञान व कला की चिंतन परंपरा की मूल धारा को खोजना या समझना क्या इतना आसान है? मुझे तो लगता है, चिंतन की कोई भी परंपरा एक रेखीय नहीं होती। उस परंपरा के बनने में समाज की विभिन्न शक्तियाँ कार्यशील होती है। इनमें राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक शक्तियों के साथ लोक चेतना का प्रमुख स्थान है। इनमें से किसी भी शक्ति की उपेक्षा इतिहासकार को भटका सकती है। किसी भी इतिहासकार को इस बात की आजादी नहीं दी जानी चाहिए कि अपनी रुचि के अनुसार उक्त शक्तियों में से किसी एक या दो को अतीत की घटनाओं के विश्लेषण का आधार बनाए। हाँ अगर तथ्यों की अनुपलब्धता हो तो इतिहासकार की सीमा स्वतः तय हो जाती है, परंतु जैसे ही नए तथ्य सामने आते हैं, उसके आलोक में पुनर्विचार करना आवश्यक हो जाता है। किसी विषय पर बार-बार शोध करने का मुख्य कारण यही है। अंग्रेजी में 'रिसर्च' शब्द का प्रयोग इसी अवधारणा को प्रकट करता है, जो सर्वथा तर्कसंगत है। दुर्भाग्य की बात है कि भारतीय संगीतशास्त्र के इतिहासकारों ने 'रिसर्च' की आत्मा को समझने का प्रयास नहीं किया। उन्होंने संगीतेतिहास लेखन के दौरान अपनी दृष्टि राजनीतिक परिस्थितियों पर गड़ाये रखा। थोड़ी बहुत ताक-झाँक की भी तो धर्म की सीमाओं से बाहर नहीं जा सके। जबकि यह ज्ञात तथ्य है कि समाज की प्रत्येक गतिविधियाँ किसी न किसी तरह अर्थ से संचालित होती है। यहाँ तक की राजनीति और धर्म भी। राजनीति और धर्म की ताकत को भी अर्थ ही संचालित करता है। इसके बावजूद भारतीय संगीतशास्त्र का इतिहास आर्थिक संदर्भों में व्याख्यायित नहीं होता। प्रश्न यह उठता है कि जिस कला के इतिहास को राजनीति और धर्म के चौखट में बाँध दिया जाए, उसे उस कला का मौलिक अथवा मुकम्मल इतिहास कहेंगे?

ध्यातव्य है कि सृष्टि के आरंभ से ही संगीत विद्यमान रहा, परन्तु इसका शास्त्र हजारों वर्ष बाद बनना शुरू हुआ। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि शास्त्र तभी अस्तित्व में आते हैं जब क्रियात्मक साधनाएँ पर्याप्त रूप से विकसित हो जाती है। "पंडित अहोबल इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। उनके अनुसार बिना उद्देश्य बिना लक्ष्य या लक्षण और

Ph.D, NET, पटना विश्व विद्यालय, पटना

Scanned with CamScanner

बिना परीक्षण के कोई शास्त्र नहीं होता।"[2] हिन्दुस्तानी संगीत के साथ कुछ ऐसा ही है। वैदिक युग में संगीत से संबंधित छिट-पुट जानकारी मिलने लगती है। यह जानकारी तद्युगीन संगीत के समुचित विकास का संकेत देती है। इसका अर्थ है कि वैदिक युग से काफी पहले क्रियात्मक संगीत का समुचित विकास हो चुका था। वैदिक वाङ्मय में उसी की झलक मात्र है, जो कदाचित स्पष्ट है। लेकिन इसका अर्थ समय-समय पर स्थिति में थोड़े परिवर्तन भी हुए, परन्तु उसे क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं कहा जा सकता।

बहरहाल, भारतीय संगीत-शास्त्र हजारों वर्ष की यात्रा के बावजूद सीमित उपलब्धियों के बीच आबद्ध है। वैश्वीकरण एवं नई तकनीक के आगमन से अनुरंजनात्मक संगीत चाहे जितना आगे चला गया हो। परंतु पारंपरिक संगीतशास्त्र के विकास का गौरवशाली युग हमारे पास एक ही, वह है मुगल काल। समस्या यह है कि हिंदुस्तान के संगीतशास्त्रीय चिंतकों ने संगीत का मुकम्मल इतिहास लिखने का प्रयास नहीं किया। इस प्रयास के नाम पर भारतीय राजनीतिक इतिहास के विभिन्न कालखंडों में मौजूद तथा अन्य शास्त्रों में वर्णित संगीत संबंधी कुछ जानकारियों का विवरण मात्र एकत्रित कर लिया गया है और यह नहीं कि संगीत का शास्त्र के विकास की दृष्टि से वैदिक युग को केवल 'वातावरण निर्माण काल' कहना ही उचित होगा। हालाँकि वातावरण के निर्माण में भी हजारों वर्ष लग गए। किसी शास्त्र के निर्माण के लिए आवश्यक वातावरण प्राप्त करने में ही अगर हजारों वर्ष लग जाएँ तो समझना चाहिए कि बनने वाले शास्त्र पर सीमित लोगों का अधिकार होगा। अगर शास्त्र का विकास जनसाधारण की आवश्यकता के निमित किया जाए तो उसका विकास तीव्र गति से होता है। भारत में धर्मशास्त्र और दर्शनशास्त्र का विकास पराकाष्ठा तक हुआ, क्यों धार्मिक चिंतन समाज एवं जनसाधारण को ध्यान में रख कर किए गए। सभी शास्त्रों की संभावनाओं को धार्मिक यज्ञ का छवि बना दिया गया। परिणामतः भारत में संगीत शास्त्र भी धर्म का सहचर व साधन बनकर रह गया। यह स्थिति लंबे समय तक रही। किसी भी इतिहासकार ने संगीत शास्त्र की परंपरा को रेखांकित करते हुए उसकी प्रवृत्तियों को केन्द्रीय महत्व क्यों नहीं दिया? सच तो यह है कि भारतीय संगीतेतिहास-लेखन में इतिहास बोध की उपेक्षा की गई है। प्रायः इतिहासकारों ने कालक्रमिक विवरण प्रस्तुत किया है, विश्लेषण नहीं। अतः जरूरत इस बात की है कि उपलब्ध सामग्रियों का इस्तेमाल करते हुए भारतीय संगीत का एक ऐसा इतिहास लिखा जाए जिसमें उसके विकास की मूल धारा की झलक मिले।

संदर्भ

1. चन्द्र सतीश, मध्यकालीन भारत में इतिहास-लेखन, धर्म और राज्य का स्वरूप, ग्रंथ, शिल्पी, नई दिल्ली 1999 पृष्ठ-59
2. अहोबल पंडित, संगीत परिजात, लोक, 25
3. जोशी उमेश, भारतीय संगीत का इतिहास

Scanned with CamScanner

अवधी लोक संगीत में लय विधान

प्रगति राठौर

" लयः साम्यम।"[1] -अमरकोष

अर्थात सामान गति को लय कहते है। लय एक व्यापक विषय है। जिसकी व्याख्या अनेक विद्वानों ने भिन्न- भिन्न तरह से की है वस्तुतः लय का अटूट सम्बन्ध हमारे जीवन से ही नहीं अपितु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से है यदि ये कहे कि लय के बिना ब्रह्माण्ड की कोई भी गतिविधि सम्पन्न नहीं हो सकती तो अनुचित ना होगा क्योंकि लय इस ब्रह्म पिंड के कण कण में व्याप्त है प्रत्येक ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, अपनी अपनी परिधि में लयबद्ध होकर नाच रहे हैं। जिनके परिणामस्वरूप सेकेंड, मिनट, घंटा, दिन, रात, सप्ताह, पखवारा, मास, वर्षा, सदी व युग आदि सभी एक निश्चित समय के अधीन है। यदि इनमे से किसी प्रकार का व्यवधान या गतिरोध उत्पन्न हुआ तो प्रलय निश्चित है। अतः लय की व्यापकता अखिल ब्रह्माण्ड के समस्त ग्रह नक्षत्रों में ही नहीं वरन प्रत्येक प्राणिमात्र में देखी जा सकती है। मनुष्य की धमनियों में जो रक्त संचरित हो रहा है उसकी भी एक निश्चित गति है। हृदय की धड़कन और नाड़ी चालन आदि सभी एक निश्चित गति का निर्वाह करते है जो कि इनमे दृष्टिगत भी होता है। यदि इनमें कहीं पर भी किंचित गतिरोध होता है तो जीवन संकट में पड़ जाता है। हम लोगो की श्वसन क्रिया भी लयबद्ध है। इसी की गतिशीलता से हमारा जीवन सुचारू रूप से सुरक्षित चलता है। अतः कोई भी ऐसा विषय-क्रियाकलाप अथवा कला कौशल नहीं है जिसमे लय की उपस्थिति ना हो। ललित कलाओं में मूर्तिकार व वास्तुकार की छेनी हथोड़ी चित्रकार की तूलिका कवि की कलम तथा संगीतकार की ध्वनि में इस व्यापक लय की सत्ता के प्रत्यक्ष दर्शन होते है। अतः समस्त ललित कलाओं में प्राण फूंकने का कार्य लय द्वारा ही सम्भव होता है। लय का ही सानिध्य पाकर ललित कलाएँ सजीव हो उठती है।

ललित कलाओं के आचार्यो ने अपनी अपनी तरह से लय को भिन्न- भिन्न रूपों में परिभाषित किया है और इससे अपनी कला का अटूट सम्बन्ध जोड़े रखा है। संगीत के अंतर्गत लय का विशिष्ट महत्व है। संगीत का उदभव सृष्टि के साथ साथ हुआ। जब से इस धरती पर जीवन का पदार्पण हुआ उसके साथ ही किसी न किसी रूप में संगीत का इस धरा पर अस्तित्व रहा है। कभी नाद के रूप में, वायु के सनसनाहट में नदियों के कलरव में और जीवन के कोलाहल में संगीत मूर्तिमान रहा है। शनैःशनैः संगीत का परिस्कृत स्वरूप हमें वैदिक युगों से प्राप्त होता है। वैदिक काल में उद्दात्त अनुदात्त स्वरित तीन प्रकार के स्वरों का उल्लेख मिलता है, जिसके माध्यम से सामगान होता था। वेदों की ऋचाये यज्ञादि के अवसरों पर कुशल व संगीत में निपुण नारियों व पुरुषो द्वारा गान किया जाता था। इसी समय कई प्रकार के वाद्ययंत्र भी प्रयोग में लाये जाने लगे थे। जिनका वादन नृत्य के समय प्रायः किया जाता था। सामवेद में भी लय के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण चर्चा की गई है, एक स्थान पर लिखा है, "श्रुतिः माता लयः पिता"[2] आशय यह है कि स्वर की जननी श्रुति का दर्जा माँ के समान है तथा ताल को जन्म देने वाली लय को ताल के जनक की संज्ञा दी गई है। ताल और स्वर संगीत के दो स्तम्भ है,

शोधार्थी (गायन), ए. 53 संगीत आराधना, राजीव नगर, यशोदा नगर, कानपुर

Scanned with CamScanner

जिनके ऊपर सम्पूर्ण संगीत टिका हुआ है, इनके अभाव में संगीत के किसी भी अस्तित्व की कल्पना करना व्यर्थ है। अतः संगीत को स्वर और लय प्राण प्रदान करते हैं।

हमारे शास्त्रीय संगीत का पूर्व रूप लोक संगीत से प्राप्त हुआ है इसलिए विभिन्न विद्वान एवं संगीत मनीषियों व संगीताचार्यो ने लोक संगीत को शास्त्रीय संगीत की जननी कहा है और उसके उदर से ही शास्त्रीय संगीत ने जन्म लिया है तथा कालान्तर में परिणत होकर विद्वानों के द्वारा शोधन कर उसे शास्त्रीय जामा पहनाया गया।

क्योंकि आज जो राग ताल शास्त्रीय संगीत में गाए बजाये जाते है, वो पूर्व मे किसी-न-किसी समय लोक संगीत मे गाए बजाए जाते थे। उनकी लोकप्रियता ने संगीत शास्त्रकारों के मन मे ये मोह पैदा किया कि कही ये लोकधुन समय के गोद मे विलुप्त ना हो जाए इस उद्देय को ध्यान में रखते हुए उन धुनों व तालों को निबद्ध कर एक विशेष प्रकार के शास्त्रीय नियमों के बंधन में बांध कर उसे अमरत्व प्रदान किया।

हमारा भारत देश अनेक बोली भाषा और क्षेत्र वाला देश है तो जाहिर है यहाँ का लोक संगीत भी अनेक प्रकार का होगा। इस तथ्य का आलोडन-विलोडन करने से ज्ञात हुआ कि हमारे भारत देश मे बहुत प्रकार की लोक संगीत विधाएँ प्रचार मे है। जिनमें अवधी लोक संगीत अपना एक विशष्ट स्थान रखती है। अवधी लोक संगीत का क्षेत्र बहुत विाल है। उत्तर ङ्कदेा मे इसके अन्तर्गत कइं जिले समाहित किये गये है। अपनी पुस्तक "अवधी श्रमगीत'' में ''प्रो0 सूर्य प्रकाश दीक्षित' जी ने अवधी का क्षेत्रफल निम्न प्रकार दिया है- "अवधी हिन्दी की सर्वाधिक समृद्ध विभाषा है । यह उत्तर प्रदेश के लखनऊ, सीतापुर, लखीमपुर खीरी, उन्नाव, फतेहपुर, बहराइच, बाराबंकी, बलरामपुर, रायबरेली, गोड़ा, संत कबीर नगर, फैजाबाद, अम्बेदकर नगर, सुल्तानपुर, प्रतापगढ़, सिद्धार्थनगर, इलाहाबाद, श्रावस्ती, जौनपुर, मिर्जापुर, फतेहपुर, कौशाम्बी तथा बिहार के मुजफ्फरपुर एवं मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ आदि क्षेत्रें मे लगभग साढ़े चार करोड़ व्यक्तियों के बीच व्यवहत है। सूरिनाम, फीजी और मारीशस मे इसकी प्रतिष्ठा है। भोजपुरी, बुन्देली, कन्नौजी, छत्तीसगढ़ी, बघेली आदि विभाषाएँ भी इसकी भगिनी है। अवधी के मुख्य पांच रूपान्तर प्राप्त होते है पूर्वी, पश्चिमी, बैसवारी, गांजरी एवं बांगरही। अपनी शब्द सम्पदा के कारण अवधी का स्थान महत्वपूर्ण है। वस्तुतः श्री रामचरितमानस की भाषा होने के कारण यह विव विश्रुत हो गई है।"[3] उपरोक्त क्षेत्र का अवलोकन करने से अवधी लोकसंगीत कितना समृद्ध है और इसका प्रचार-प्रसार कहाँ तक है, इसकी लोकप्रियता को दर्शाता हैं। परिणामस्वरूप अवधी लोकगीतों ने विभिन्न प्रकार के विषयों को लेकर जीवन की प्रत्येक घटनाओं एवं विविध पहलुओं को अपने अंक में समाहित कर रखा है। जिसकी पुष्टि इन लोकगीतों को अवधी लोक गायकों द्वारा ग्रहण कर उसकी पारम्परिक लोक धुनों को जन-जन तक पहुचाने का सराहनीय कार्य किया गया है। अवधी भाषा का मुख्य केन्द्र अयोध्या होने के कारण इन लोकगीतो में अयोध्या के नायक श्री राम की कथाओं पर आधारित लोकगीतो का प्रचुर भण्डार प्राप्त होता है। राम के जन्म से लेकर उनकी प्रत्येक लीलाओं के दर्शन अवधी लोकगीतों के लोक गायको के माध्यम से एवं सुदूर गावो मे बसे हुए नर नारियों के कंठो से मुखरित हो अवधी संगीत की अविरल धारा अवध के लोक संगीत को अभिसिंचित कर उसको पल्लवित पुष्पित आज भी कर रही है परन्तु जैसा इसका प्रचार-प्रसार वर्तमान समय में होना चाहिए वैसा नहीं हो पा रहा है। अतः इस दिशा मे विद्वानों एवं शोधार्थियों द्वारा कार्य अपेक्षित है । इस दिशा में इसके उत्थान के लिए जन सामान्य के सहयोग की भी आवश्यकता है ।

संगीत मे लय का विशिष्ट स्थान है। लय आनन्द प्रदान करती है और किसी भी कला को गतिशीलता प्रदान करने का सशक्त माध्यम लय ही है। संगीत की कोई भी विधा हो सभी का धरातल लय है। लय के ही धरातल पर सभी संगीत की कला विधाओं का भवन निर्मित होता है अतः लय के अभाव में किसी भी संगीत विधा का अस्तित्व संभव नही है। 'तुलसी राम देवागन जी' 'संगीत निबन्धावली' के भारतीय संगीत के रसोत्पादक अंग शीर्षक निबन्ध के अन्तर्गत लिखते है कि- "विलम्बित

Scanned with CamScanner

लय शांत, गंभीर रस उत्पन्न करती है। मध्य लय श्रृंगार रस उत्पन्न करती है। द्रुत लय अदभुत रस उत्पन्न करती है। शब्द व स्वर के योग से लय के रस में परिवर्तन हो जाता है, परन्तु साधारण नियम यही है। चौताल, शूल, धमार इत्यादि ध्रुवपद मे गाये जाने वाले ताल वीर तथा शांत रसोत्पादक है। त्रिताल दीपचन्दी, तिलवाडा और जत ये श्रृंगार रस के ताल हैं। कहरवा, दादरा भी श्रृंगार के ही है, विलम्बित एकताल व झूमरा श्रृंगार व शांत दोनों रस उत्पन्न करने वाले है। वास्तविक रस उत्पन्न करने के लिए राग व गीत के शब्दों के बाद ताल और लय का क्रम आता है जो कि आवश्यक है।"[4] गीत को प्राण तत्व प्रदान करने के लिए लय तत्व का होना नितान्त आवश्यक है इसके अभाव मे लोकगीत निष्प्राण सिद्ध होगा। अतः इसी प्रकार के विचार डॉ० प्यारे लाल जी श्री माल 'सरस पण्डित जी लिखते है कि-" लय तो लोक संगीत में इस प्रकार समाई रहती है जैसे शरीर में रक्त। गाते अथवा बजाते समय उसके विलय होने का संदेह ही उत्पन्न नहीं होता। मध्य एंव द्रुत लय की दादरा तथा कहरवा ताले लोक संगीत को जहां आशुरंजक बनाती है वहा सर्वोपयोगी भी बनाती है।"[5] आशय यह कि लय संगीत को जीवन प्रदान करती है कि संगीत की आत्मा लय ही है इसलिए संगीत का प्राण लय को बताया जाता है और इस कथन की सार्थकता प्रत्यक्ष रूप से संगीत के प्रदर्शनों में सिद्ध होती है। जब श्रोता मंत्रमुग्ध हो कर संगीत के सम्मोहन में अपनी सुध-बुध खोकर तन्मयता से संगीत की अविरल धारा में अवगाहन करते हुए अपने को रसमग्न पाते है, वहीं भाव विभोरता की पराकाष्ठा की परिणिति होती है। लोक संगीत मे लय के सम्बन्ध में कुछ इस प्रकार के विचार 'डॉ० अरूण कुमार सेन' प्रस्तुत करते है कि -"भारतीय लोक संगीत में लयात्मकता का महत्व अन्य देशीय लोक संगीत से अधिक रहा है अवनद्ध वाद्यों का विभिन्न लयों में कल्पना शक्ति से प्रसार भारत मे ही संभव हुआ है। हमारे लोक संगीत मे निश्चितकाल माप का निर्वाह करते हुए असंख्य क्लिष्ट लय स्वरूपों का सृजन चर्म वाद्यों पर होता है। हमारे लय वाद्य वादको को बाल्यावस्था से ही इन गति-स्वरूपों का इतना अभ्यास रहता है कि सहस्त्रों बोलों की रचना करते हुए भी वे लय भ्रष्ट नहीं होते। अन्य देशीय संगीत-शास्त्रीय संगीत की इस लयात्मकता से मन्त्र मुग्ध होते रहे है। हरबर्ट पापली ने 'म्यूजिक ऑफ इण्डिया के पृ० 69 पर लिखा है- भारतीय आत्मा में निहित लयात्मकता अत्यन्त गहन है। इस देश का एक साधारण चर्म वाद्य वादक निरक्षर होते हुए भी पढे लिखे शिक्षक से द्विगुणित द्रव्य उपार्जन करता है।"[6] अर्थात यहां पर इस बात की पुष्टि होती है कि संगीत मे अभ्यास कितना महत्वपूर्ण है कि अभ्यास के द्वारा बड़े-बड़े महान शास्त्र युक्त पण्डित, शिक्षकों को भी मात देने में ये निरक्षक चर्मवाद्य वादक समर्थ है और उनसे कहीं ज्यादा धनोपार्जन कर लेते है। अतः लोक संगीत के अन्तर्गत गायक वादक सामान्य रूप से ग्रामीण अंचलो से होते है जिन्हे शास्त्र का ज्ञान कदाचित नहीं होता है वे बहुधा निरक्षर ही होते है परन्तु उनमें जन समूह को चमत्कृत कर देने वाली अलौकिक प्रतिभा छिपी होती है जो उनके अथक परिश्रम को सिद्ध करती है। ज्ञातव्य हो मैं लोकसंगीत की शोध छात्र हूँ इसलिए मेरी दृष्टि अधिकतर लोक संगीत पर केन्द्रित रहेगी। लय का सम्बन्ध लोक संगीत से चोली दामन का हैं, इसलिए यह एक दूसरे से किसी भी दशा में अलग नहीं हो सकते है। इस बात की पुष्टि इस उद्धरण से सिद्ध होती है- "लय लोक संगीत का एक अविभाज्य अंग होने के कारण संरक्षण एवं संवर्धन लोकसंगीत की सभी धाराओं में आदिकाल से विद्यमान हैं। अधिकांश लोक संगीत में मध्य एवं द्रुत लयों का प्रयोग होता है। विलम्बित लय का प्रायः अभाव है। विलम्बित लय हेतु अधिकतर अनिबद्ध शैली का ही प्रयोग होता है। साधारणतः विलम्बित लय हीन पंक्तियों को द्रुत या मध्य लय साम्य के भीतर आयोजित करते है।"[7] इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के लोकगीतों में तरह-तरह की लयकारियों का भी सामंजस्य होता है जो उनके सौन्दर्य लालित्य को द्विगुणित कर चार चांद लगा देता है। इस सन्दर्भ में निम्न उद्धरण की उपयोगिता विशेष है "लोक सांगीतिक लयात्मकता शास्त्रीय संगीत में प्रयुक्त तालों की जननी है । इनका विश्लेषण सिद्ध करता है कि अधिकांश लोक संगीत मे '2/2', '3/3', '4/4', '2/2' का सम लय साम्य रहता है।

Scanned with CamScanner

विषम या मिश्र पदो के '3/2/2', '2/3', '4/3' या '3/2/3/2' जैसे सहज प्रयोग।"[8] अवधी लोक संगीत इतना समृद्धशाली है, जिसमे हर एक प्रकार की लयकारियों का दिग्दर्शन हो जाता है। प्रस्तुत लेख के शीर्षक का निर्वाहन करते हुए श्री राम से सम्बन्धित ऐसे गीतों का उल्लेख अग्रलिखित है जिनमें उपरोक्त लयकारियों का सफल प्रयोग स्वाभाविक रूप से हुआ है।

'2/2 - (सरिया के रूप में)

"सरिया खेलन्ते राम लछिमन
रानी के सबै जन
कहां सारी खेलि आयों मोरे लाल
सरिया तो धरिन है बम्बुर तरे अपने बिरिछ तरे
सरिया खेलत घर आए
कहो धना बैधना मोरे लाल"

'3/3 - (जन्मगीत)

"कहवहिं राम के जनम भए
है सिवसंकर?
कहवहिं भए है अनन्द
सुनहुँ रघु नन्दन ?
अजोध्या मे राम जी के जनम
भए सिबसंकर
जनकपुर भए है अनन्द
सुनहु रघुनन्दन, सुनहु रघुनन्दन"

'4/4- (लगन गीत)

"राजा दसरथ फूले ना समाए
लगन लागी हरे -हरे
लगन लागी मोरे अगना
राजा दसरथ फूले ना समाए
चाचा सजगै ताऊ सज सजगै
सजगै सबै बराती
हमरे राम लाला
अइसे सजे है
जइसे सिरी भगवान
लगन लागी हरे-हरे "

'3/2/2- (रूप-वर्णन)

"बड़े-बड़ें नैना राम जी के
कजर भल सोबई हो,
रामा कउन-कउन तप कोई कोहा
सीता धना पायउ हो ?
बीच-बीच गोटवा लगायो
चुनर भल सोहइ हो,
सीताकवन कवन तप कीहू
रमइया बर पाइउ हो ?

'2/3-(लोरी)

"राम सुलावै मात कौसिल्या
हिलरावैं दुलरावैं मात कौसिल्या
सोवै नाहिराम लाख जतन करै
मात कौसिल्या लाख जतन करै"

'4/3- (पालना)

नीका लागे घर तोरे कौसिल्या,
नीका लागे घर तोरे कौसिल्या
रेसम पाट्टि का बना पालना
झूलै सुत तोरे कौसिल्या
नीका लागे घर तोरे कौसिल्या"

इसी प्रकार अनेक लोकगीत भिन्न-भिन्न' लयकारियों का स्वाभाविक रूप से प्रदर्शन करते है, जिनमे गणित की खींचातानी नही रहती है। लोकगीतों में विभिन्न प्रकार की लयकारियों के माध्यम से सौन्दर्य का प्रदर्शन दर्शनीय है। श्रोता अनायास जहाँ ऐसी रचनाओं को लोक गायकों द्वारा सुनते है तो स्तब्ध हो जाते है और उन्हें समय का बोध नहीं रहता, फलतः लय के माध्यम से लोकगीतो में वैचित्र्य सृष्टि होने के कारण सौन्दर्य की प्रबलता जनसामान्य के हृदय को अपनी ओर खींचती है जिसके लिए कलाकार द्वारा किसी भी प्रकार का बरबस प्रयोग नहीं किया जाता उसमें तो सौन्दर्य बोध का सृजन स्वतः ही व्याप्त रहता है, जिसके लिए किसी भी प्रयास की अपेक्षा नहीं रहती। निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि सौन्दर्य के सृजन में लय की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका है जो लोकगीतों में स्वाभाविक रूप से निहित रहती है।

Scanned with CamScanner

सन्दर्भ

1. संगीतिका, डा० गीता मिश्रा, पृष्ठ 24
2. वही
3. अवधी श्रम गीत, प्रो० सूर्य प्रकाश दीक्षित, पृष्ठ 2 (संपादकीय)
4. संगीत निबन्धावली-संपादक लक्ष्मी नारायण गर्ग, लेख-भारतीय संगीत के रसोत्पादक अंग, तुलसी राम देवांगन, पृष्ठ 134-135
5. निबन्ध संगीत-संपादक लक्ष्मी नारायण गर्ग लेख शास्त्रीय एवं लोक संगीत पर एक तुलनात्मक दृष्टि, प्यारे लाल श्रीमाल, पृष्ठ 108
6. निबन्ध संगीत- सम्पादक लक्ष्मी नारायण गर्ग , लेख - शास्त्रीय तालो का और लोक सांगीतिक लयो का तुलनात्मक अध्ययन , अरुण कुमार सेन, पृष्ठ 109
7. वही
8. वही

Scanned with CamScanner

संगीत के शैक्षणिक सिद्धान्त

डॉ० पुष्पवाणी

संगीत के प्रयोजन पर प्राथमिक से उच्च माध्यमिक विद्यालयीय स्तर पर संगीत शिक्षण पद्धति की मूल समस्याओं पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि इस स्तर पर संगीत शिक्षा का बीजारोपण बड़े सुलभता से किया जा सकता है। प्राथमिक से उच्च माध्यमिक स्तर के बालकों के लिए यदि पाठ्यक्रम सम्बन्धी समस्याओं का अवलोकन किया जाये तो ज्ञात होता है कि इस स्तर के बालकों के पाठ्यक्रमों में निहित संगीत विषयक् केन्द्रों में क्रमिक व व्यवस्थित रूपरेखा का अभाव मिलता है। विद्यालयों के पाठ्यक्रम में संगीत पारिभाषिक शब्दों के अन्तर्गत वादी, सम्वादी, स्वर, थाट, जाति, वर्ण काकू भेद, स्थाय, राग आदि को स्कूल के स्तर पर पढ़ाया जाना चाहिए। देखा जाये तो शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों में आत्मचिन्तन तथा आत्ममंथन की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन करना है। उसी प्रकार विद्यालयीन शिक्षण में पाठ्यक्रम की व्यवस्था का उद्देश्य विद्यार्थी का मार्गदर्शन करना तथा उसे सम्बद्ध विषयों को क्रम से समझाते हुए उसकी आयु, मानसिक योग्यता तथा ग्रहण-शक्ति के आधार पर संगीत के अनेकानेक पक्षों से अवगत कराना चाहिए। संगीत संस्थाओं के रूप में विद्यालय पद्धति से दी जाने वाली शिक्षा, गुरूकूल पद्धति से दी जाने वाली शिक्षा की तुलना में अधिक विस्तृत है। संगीत के प्रचार के दृष्टि से भी सराहनीय है, परन्तु इन पद्धतियों से संगीत के आन्तरिक्त तत्वों को अधिक ठेस पहुँच है। गुरूकूल पद्धति की तुलना में आधुनिक शिक्षण पद्धति में समस्याएँ कहीं अधिक है क्योंकि उस समय में विद्यार्थी गुरू-गृह में रहकर उचित वातावरण व गुरु का संसर्ग प्राप्त होता था उसमें संगीत के संस्कार सुलभता से पल्लवित हो जाते थे। आधुनिक परिवेश में भौतिक आवश्यकताएँ बढ़ जाने तथा सामाजिक परिस्थितियाँ बदल जाने के कारण संगीत शिक्षण प्रणाली की रूपरेखा भी परिवर्तित हो गयी है।

पाठ्यक्रम की उपयुक्तता-

संगीत प्राविधि के अन्तर्गत पाठ्यक्रम का विशेष स्थान होता है। संगीत के अन्तर्गत गायन, वादन व नृत्य तीनों का समन्वय होने के कारण प्राथमिक स्तर पर भावों का संकेत करते हुए समूहगान आदि तत्पश्चात् माध्यमिक स्तर पर समूह नृत्य, लोकनृत्य, लोकगीत, देश प्रेम के गीतों आदि को उचित स्थान दिया जाना चाहिए और साथ ही साथ संगीत में रागों व तालों का ज्ञान कराते रहना चाहिए। इससे विद्यार्थी न केवल ध्वनि व लय के प्रयोग से परिचित हो पाते हैं बल्कि अपनी कल्पनात्मक प्रतिभा का प्रयोग कर रचना कार्य के प्रति भी उत्साहित हो जाते हैं। इस प्रकार की शिक्षा के लिए अध्यापक का स्वयं व्यक्तिक रूप से रचना कार्य की क्षमता से परिपूर्ण होना तथा संगीत के प्रयोगात्मक या क्रियात्मक स्वरूप में दक्ष होना अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रकार शिक्षक की व्यक्तिक योग्यता, कार्य कुशलता, लय-ताल पर अधिकार एवं सूक्ष्म प्रयोगों व स्वर ताल के सागर में स्वछन्द विहार करने की कुशलता का विशेष महत्व है। पाठ्यक्रम निर्माण में यह ध्यान रखना आवश्यक है कि सामाजिक, राष्ट्रीय सांस्कृतिक तथा अध्यात्मिक भावनाओं में जागृती उत्पन्न करने के लिए विशेष सैद्धान्तिक तत्वों को अन्तर्निहित

पूर्व शोध छात्र, विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0वि0, दरभंगा

Scanned with CamScanner

करने के साथ-साथ सुगम संगीत या लोक संगीत के पक्ष को भी साथ लेकर चला जाये। राग, ताल, स्वर, लय आदि के ज्ञान के साथ-साथ सौन्दर्यशास्त्र के गुणों जैसे कल्पना, रसाभिव्यक्ति, अनुभव, निर्माण क्षमता, आदि व्यक्तित्व सम्बन्धी गुणों का समन्वय भी शिक्षा में होना चाहिए। इसके लिए जहाँ एक ओर शास्त्रीय संगीत की आधारभूत क्रियाओं को सिखाना अनिवार्य है वहाँ लोक-प्रसंगों से युक्त बन्दिशों, लोक धुनों पर आधारित रागों, तालों व नृत्य प्रकारों अथवा अध्यात्म से सम्बन्धित विशिष्ट विधाओं व रचनाओं को सिखाना भी अनिवार्य है। इनके माध्यम से समाज के सांस्कृतिक आदर्शों व मूल्यों का चित्रण, सामाजिक वातावरण, सामाजिक परिस्थितियों व गतिविधियों का चित्रण होने के साथ -साथ जीवन आदर्श भी शिक्षा में सहज ही सम्मिलित हो जाते हैं। दैनिक जीवन की झाँकी, ऋतु व प्रकृति चित्रण आदि रोचक प्रसंगों के समावेश से विषय अधिक रुचिकर हो जाते हैं और विचारशीलता का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। आध्यात्मिक चेतना के साथ-साथ राष्ट्र प्रेम की चेतना, लोक कल्याण की चेतना आदि उत्पन्न होने से यह शिक्षार्थी देश के भावी कर्णधार बन सकने में समर्थ होते है। उनमें अपने आपको समाज की महत्वपूर्ण इकाई मानने का तथा अधिक उत्साह वर्धक कार्य करने की क्षमता आ जाती है।

स्वर साधना का महत्व-

बाल्यकाल में उपयुक्त स्वर साधना से कंठध्वनि, मधुर व सरल एवं सहज सांगीतिक व्यवहार करने योग्य हो जाती है व गम्भीर चिन्तन एवं एकाग्रता आदि गुणों से सम्पन्न होने पर तथा उपयुक्त संगीत साधना से उसके संगीत द्वारा की जाने वाली अभिव्यक्ति में संजीवता उत्पन्न हो जाती है। प्रारम्भ में सरगम तथा अलंकार सिखाने के पश्चात् श्वास को दीर्घ करने के लिए आलाप का शिक्षण तथा अभ्यास करने की प्रेरणा, उपयुक्त बैठक, आवाज के लगाने का तरीका सिखाना उचित है। अतः शैक्षिक प्रक्रिया में शिक्षक को इन सब नियमों के प्रति सजग रहना आवश्यक है। सभी विद्यार्थियों की कंठध्वनि के अनुसार कक्षा में आधार स्वर की स्थापना करना सम्भव नहीं है, इसलिए ऐसे आधार स्वर की व्याख्या करनी चाहिए, जिसपर सुलभता से सभी बालक गा सके। प्राथमिक शिक्षा में छात्र व छात्राओं की कंठध्वनि में अधिक अंतर नहीं होता परन्तु उच्च माध्यमिक कक्षाओं मे कंठधर्म भिन्न-भिन्न होने के कारण आधार स्वर का विभाजन अनिवार्य हो जाता है।

स्वर-ज्ञान का संगीत में अपना विशेष महत्व है। संगीत शिक्षण में स्वर को बराबर-बराबर गाना व बालकों द्वारा पुनरूच्चारण के माध्यम से स्वर ज्ञान परिपक्व होता है। आगे चलकर स्वर ज्ञान से ही बालक स्वर -लिपि का ज्ञान प्राप्त करने में सफल होते है। आरम्भ से ही आदत डलवानी चाहिए कि विद्यार्थी कोई भी गीत को गाकर तथा उसी के आधार पर उसकी स्वरलिपि गाकर याद करें तो उसे गीत गाते हुए उसके स्वरलिपि को भी मानसिक रूप से ग्रहण कर लेगा। संगीत में चिंतन-मनन तथा स्मरण का विशेष महत्व है क्योंकि इन्हीं के आधार पर बालक संगीत के सम्पूर्ण स्वरूप को अंगिकृत करता है। संगीत कोई पठन का विषय नहीं है। क्रियात्मक रूप से अनुभव, विचार करके तथा पुनः प्रदर्शित करने का विषय है इसलिए कला कौशल एवं प्रतिभा से सीखना, स्मरण शक्ति से उसे याद करना तथा उसपर मनन-चिंतन करते हुए अपनी कल्पना के आधार पर उसका अभ्यास करना नितान्त आवश्यक है। अतः मनोवैज्ञानिक पद्धति से दिये जाने पर उनमें प्रयोगात्मक क्षमता, विचारशीलता करके उसके अनुसार गाने की क्षमता आती है तथा उसकी सोचने समझने व ग्रहण करने की शक्ति का भी विकास होता है। एक योग्य शिक्षक का कर्त्तव्य है कि अच्छे पथ प्रदर्शक होने के नाते बालकों को अध्ययन के लिए उचित व्यवस्था व वातावरण का निर्माण, अध्ययन सामग्री का एकत्रीकरण, विषय का स्पष्टीकरण व सहज एवं सरल प्रस्तुतिकरण करें।

प्राथमिक शिक्षण के अन्तर्गत संगीत शिक्षा के जो प्रमुख ध्यानाकर्षक तत्व हैं वह इस प्रकार हैं-

1. प्राथमिक शिक्षण के अन्तर्गत शिक्षक अपने अनुभव से बालकों को ऐसा संगीत सिखाए जो रुचिकर भी हो व आसान हो। शास्त्रीय संगीत की संज्ञा न देकर छोटे-छोटे रुचिकर गीतों के माध्यम से ही बालक में सांगीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व देशप्रेम की भावना जागृत की जाए। मनोवैज्ञानिक

Scanned with CamScanner

तरीकों से बालक की मानसिक वृत्तियों का आभास करते हुए अनुकूल गीत सिखाया जाए।

2. विद्वानों के मतानुसार कुछ ऐसे सांगीतिक वाद्यों का निर्माण किया जाए जिनके माध्यम से बालक उनकी ओर आकर्षित भी हो। उदाहरण स्वरूप किसी हारमोनियम जैसे आकार का ही कोई वाद्य बनाया जाए जिसके स्वरों के ऊपर कुछ ऐसे आकर्षक चिह्न संख्या के आधार पर बनाए जाए जिनसे एक स्वर को दबाने से जो ध्वनि निकलती है, दूसरे स्वर को दबाने से निकाली गई ध्वनि उससे ऊँची है, इस बात को बालक सुनकर समझने के साथ-साथ चित्र को देखकर भी समझे। इससे बालकों के लिए ध्वनि की तारता व उनके पारस्परिक अन्तरालों को समझना सरल हो जाएगा।

3. बालकों को रागों पर आधारित समूह गान सिखाएं जाएं जिनमें शब्दों व रागों की क्लिष्टता न हो बल्कि केवल ध्वन्यात्मक रूप में रागों का स्वरूप उनके कंठ में अवतरित हो जाए। बाद में उन्हें उस राग के सरल स्वर समूहों का भी ज्ञान कराया जा सकता है। समूह गान सिखाने से और अनेक लाभ है-

- पारस्परिक प्रेम भाव जाग्रत होता है।
- विद्यार्थी संकोच की प्रवृत्ति छोड़ देने के लिए प्रेरित होते है।
- अनुकरण की प्रवृत्ति तीव्र होती है तथा मधुर शब्दों, बाल सुलभी प्रसंगों व आकर्षक लय में आबद्ध होने के कारण आनन्द, प्रीति, भक्ति, शूरता, वीरता आदि के भाव उनमें सहज ही जाग्रत होते हैं।
- शिक्षक व विद्यार्थी के बीच मधुर सम्बन्ध बनते हैं।
- कक्षा में पीछे होने पर भी उनमें हीन भावना नहीं पनपती।
- समूह गान में आंशिक अभिनय का समावेश हो जाने से वह प्रक्रियाएँ उनके शारीरिक व मानसिक विकास में भी सहायक होती है।
- राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय भावना जाग्रत होने से परस्पर सौहार्द की भावना स्थापित होती है।

बालकों को संगीत या अन्य विषयों की शिक्षा देते समय विशेष विधियों का प्रयोग किया जाना चाहिए। जिस प्रकार हिन्दी या अंग्रेजी भाषा का ज्ञान कराने के लिए पहले स्वर व व्यंजन सिखाए जाते हैं उसी प्रकार देखा जाए तो संगीत शिक्षा भी संगीतात्मक स्वरों सा रे ग म से आरम्भ होती है परन्तु स्वरों के निरन्तर अभ्यास से बच्चों में रूचि के स्थान पर उदासीनता उत्पन्न हो जाती है। इसके लिए कुछ ऐसे गीत बनाएँ जाये जो सरल अलंकारों पर आधारित हो। गीत सिखाने के बाद उसी के आधार पर स्वरों का क्रमिक उच्चारण करने से वह स्वर स्थानों से सहज ही परिचित हो सकते हैं। बालक विभिन्न ध्वनियों को नकल करने में विशेष आनन्द का अनुभव करते हैं। कक्षा में यदि कुछ खिलौनों के माध्यम से उनको आपस में टकरा कर विशिष्ट लय के साथ ताली बजाते हुए अभ्यास कराया जाए तो उनके मस्तिष्क में लय की एक-रूपता का भाव जागृत होगा। इसी प्रकार कुछ खिलौनों के माध्यम से उन्हें स्वर की तारता की पहचान भी कराई जा सकती है।

संगीतात्मक विकास के लिए बालकों में संगीत का भावनात्मक रूप से विकास होना चाहिए। विशिष्ट तकनीकी या यान्त्रिक प्रशिक्षण की तुलना में क्रियात्मक विधियाँ अधिक प्रभावशाली होती है। जिनके लिए निम्न विधियों को अपनाया जा सकता है-

प्रदर्शन द्वारा-

यह परम्परागत शिक्षण विधि है जिसमें शिक्षक स्वयं गाकर या बजा कर बच्चे को वैसा ही करने के लिए प्रेरित करता है। इसमें आधार स्वर की स्थापना बालक की कंठध्वनि को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए तथा स्वरों को क्रमिक रूप से थोड़ा-थोड़ा करके फिर पूरे सरगम को सिखाना चाहिए। सरगम का क्रमशः विलम्बित, मध्य तथा द्रुत लय में अभ्यास कराना चाहिए। सरगम को भी किन्हीं काव्यात्मक शब्दों का आश्रय देना चाहिए। स्वर व ताल की अपेक्षा बच्चों को लय अधिक आकर्षित करती है, अतः गीत लय प्रधान ही होने चाहिए। परन्तु बच्चों से शब्दों के अर्थ, उनके कवि, रचनाकार, गायक व उससे सम्बन्धित उपदेश आदि के बारे में भी पूछना व बताते रहना चाहिए। लेकिन फिर भी लय का

Scanned with CamScanner

आनन्द उन्हें साथ-साथ मिलते रहना चाहिए। प्रत्येक छात्र को मंच प्रदर्शन का अवसर देना चाहिए जिससे उनमें विश्वास पैदा हो तथा उनके व्यक्तिगत गुणों की सराहना की जाए व दोषों का निवारण, इस प्रकार किया जाए कि उसके लिए उन्हें अधिक प्रयत्न न करना पड़ें और स्वाभाविक रूप से ही वह दोष उनमें न रह पाएं। इस कार्य प्रणाली के मध्य ही शिक्षक को स्वर साधना पर भी बल देना चाहिए।

दृष्टि द्वारा संगीत शिक्षण-

हाथ या उंगलियों के संकेत से स्वरों के ऊँचे या नीचे होने का आभास दिया जाए। स्वरों के कम या अधिक अन्तराल तथा लय के कम या अधिक अन्तरालों की भी हाथों के संकेत से स्पष्ट किया जा सकता है। इससे बालकों को सूक्ष्म व स्थूल का अन्तर स्पष्ट हो जाता है, जिससे बालक भी आनन्द का अनुभव करते हैं, परन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि बालक प्रक्रियाओं या संकेतों को करने का आदत न डाल लें।

खेलों द्वारा-

खेलों के माध्यम से स्वर ज्ञान कराने के लिए आनन्द कारक बन सकता है, जैसे कुछ गहरे परन्तु आकर्षक रंगों के कार्ड बनाकर रख दें। उन पर स्वरों के नाम लिख दिए जाएं। बच्चा जो भी कार्ड उठाए, उस पर लिखा हुआ स्वर गाकर सुनाए। इसी प्रकार कला को दो भागों में विभक्त कर बारी-बारी से एक-एक स्वर को गाने के लिए कहा जाए। इससे आपस में स्पर्धा की भावना से दोनों वर्ग अपना-अपना पूर्ण प्रयत्न करेंगे। इन विधियों से यदि बालकों में प्रारम्भ से ही मनोरंजनात्मक रूप से संगीत के संस्कार उत्पन्न किए जाए तो संगीत के प्रति आकर्षण उत्पन्न होगा।

प्रयाण गीत-

प्रयाण गीतों के माध्यम से हाथ के इशारे व पांव की लयात्मक गीत से बालक में गीत को कंठस्थ करने की भावना पनपती है। जोशीले व उत्साह पूर्ण गीत उसे प्रेम की भावना से, जीवन में अपने उद्देश्य प्राप्ति की भावना से भर देते हैं और संगीत की धुन अपने आप कंठस्थ हो जाती है।

लोक गीत-

लोक गीत हल्के-फुल्के व सरल ग्राह्य होते हैं। भाषा सरल होती है, धुनें भी सरल होती है अतः संगीत की ध्वनि व लक्ष्य से परिपुरित धुनों के माध्यम से संगीत अलंकरण भी सहज ग्राह्य बन जाते हैं। इस प्रकार छोटे बालकों की संगीत शिक्षा उनके विशेष प्रयत्न किए बिना ही सम्पन्न हो जाती है। इस अवस्था में शास्त्र शिक्षण उपयुक्त नहीं होता। माध्यमिक कक्षाओं से संगीत शास्त्र के कुछ आधार नियमों की जानकारी आवश्यक हो जाती है। राग, थाट, नाद, स्वर, सप्तक, जाति आदि की संक्षिप्त व्याख्या का शिक्षण उनके लिए ग्राह्य बन जाता है। इस स्तर पर शिक्षण के लिए सहायक सामग्री तथा उचित शिक्षण प्रविधि का प्रयोग संगीत शिक्षण में करने से शिक्षक व विद्यार्थी दोनों के लिए ही संगीत शिक्षण प्रक्रिया सुगम हो जाती है। संगीत की सहायक सामग्री को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है-

- श्रव्य सामग्री
- दृश्य सामग्री
- श्रव्य दृश्य सामग्री

श्रव्य सामग्री-

संगीतज्ञों के रिकार्ड्स या शिक्षक द्वारा प्रमुख रूप से सिखाए जाने वाले गीतों के कैसेट्स इस वर्ग में आते हैं। कक्षा में एक बार सिखा देने पर या पुनरावृत्ति से अभ्यास कराने पर भी बालक इन कैसेट्स व रिकार्ड से उसी संगीत का बार-बार श्रवण करके उसे याद कर सकते हैं। आज के परिवेश में शिक्षक व शिक्षार्थी का सम्बन्ध विद्यालय में बहुत कम समय के लिए होता है अतः कैसेट्स के माध्यम से बालक घर पर भी अपने अभिभावकों के संरक्षण में इन कैसेट्स का लाभ उठा सकता है।

दृश्य सामग्री-

इस सामग्री के अन्तर्गत चार्ट, ग्राफ, फोटो, चित्र आदि का समन्वय है, जिनके माध्यम से वह संगीत के पारिभाषिक अंगों व उपांगों, राग वर्गीकरण स्वरलिपि लेखन तथा कुछ ऐतिहासिक तथ्यों को प्रेरणात्मक

Scanned with CamScanner

तथा प्रामाणिक रूप से ग्रहण करता है।

चित्रें के माध्यम से बालक में विशिष्ट वाद्यों की बनावट उनको बजाने के लिए कलाकार की बैठक, संगीतकारों के व्यक्तित्व, संगीत सभाओं के स्वरूप आदि स्पष्ट रूप से उभर आते हैं। संगीत के लिए उपयुक्त वातावरण का चित्र उसके मस्तिष्क में अंकित हो जाता है। नृत्य कलाकारों की मुद्राएं, लोक संगीत में सामूहिक लोक नृत्यों की रूपरेखा आदि से वह परिचित होने लगता है।

ग्राफ विषय की दुरूहता को कम करने में ग्राफ विशेष रूप से सहायक होते हैं। ध्वनि की गति कम्पन, आन्दोलन, स्वरों के पारस्परिक अन्तराल इतिहासकारों द्वारा वर्णित श्रुतियों पर स्वरों की स्थापना आदि को ग्राफ के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है।

चार्ट का उपयोग, राग वर्गीकरण, थाट व्यवस्था, नाद के प्रकार, जातियां, राग का समय सिद्धान्त आदि सम्बन्धी चार्ट तैयार करके या विद्यार्थियों द्वारा ही उन्हें तैयार कराने से विद्यार्थियों में विशिष्ट तथ्यों को जानने की जिज्ञासा भी उत्पन्न होती है व उसका स्पष्टीकरण भी हो जाता है।

श्यामपट्ट पर लिख कर शिक्षक गेयात्मक संरचना की बन्दिश, वादन की गत, स्वरलिपि, तालों के ठेके उसका विभाजन आदि मात्राओं के चिह्न स्वरों में कोमल व तीव्र, मन्द्र व तार स्वरों के चिह्न आदि स्पष्ट कर सकता है।

मॉडल, जो वाद्य साधारण रूप में विद्यार्थियों को उपलब्ध नहीं होते उन्हें मॉडल के रूप में प्रस्तुत करके विद्यार्थियों को उनके आकार प्रकार आदि के बारे में समझाया जा सकता है।

श्रव्य दृश्य सामग्री-

विज्ञान के इस प्रगतिपूर्ण युग में निर्मित उपकरण व यन्त्र इस वर्ग में सम्मिलित होते है। इन उपकरणों के माध्यम से संगीत शिक्षा सरल, स्पष्ट, स्थायी व रुचिकर हो गई है। इन उपकरणों में प्रमुख इस प्रकार है-

रेडियो पर प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों में संगीत शिक्षण के कार्यक्रमों का प्रसारण, उच्चकोटि के संगीतज्ञों का गायन या वादन, शास्त्र चर्चा आदि संगीत विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त लाभप्रद है। कक्षा में दी गई शिक्षा के अतिरिक्त केवल पाठ्य पुस्तकों के माध्यम से जो विचारणीय केन्द्र स्पष्ट नहीं हो पाते, वह इन कार्यक्रमों के माध्यम से रोचक व संकलित व संक्षिप्त रूप में विद्यार्थी के समक्ष आ जाते हैं जिन्हें वह पढ़ कर नहीं वरन् सुनकर मानसिक रूप से ग्रहण कर लेता है।

विद्यार्थियों के लिए टेलीविजन एक आकर्षण का केन्द्र है। संगीत गोष्ठियों, संगीत सम्मेलनों, सेमिनार, प्रश्नोत्तरी आदि कुछ टेलीविजन पर आधारित होने वाले ऐसे कार्यक्रम हैं, जिन्हें देखकर तथा सुनकर बालक बिना परिश्रम के उसमें निहित संगीतात्मक सामग्री आत्मसात् कर लेते हैं। आधुनिक समय में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा भी टेलीविजन पर स्कूलों के कार्यक्रम के अन्तर्गत विशिष्ट कक्षाओं के लिए निश्चित पाठ्यक्रमों के विशिष्ट अंगों पर कार्यक्रमों को तैयार करके प्रसारित किए जाते हैं। यह कार्यक्रम विशिष्ट कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए उनकी मानसिक परिपक्वता को ध्यान में रखकर आकर्षक ढंग से बनाए जाते हैं अतः विशिष्ट आयु तथा वर्ग के बालक अपने लिए तैयार किए गए कार्यक्रमों से विशेष लाभान्वित होते हैं।

टेपरिकार्डर, बालकों में रुचि जागृत करने के लिए तथा उनको अपने गायन या वादन में स्वयं त्रुटियों को खोजने व उन्हें सुनकर उनके निराकरण की प्रवृत्ति व्याप्त हो जाती है। आर्थिक साधनों के प्रभाव में शिक्षक उपलब्ध कैसेट्स पर ही एक बार रिकार्ड की गई सामग्री का पूर्ण उपयोग हो जाने पर पुनः उस पर अपने आप सांगीतिक सामग्री को रिकार्ड करके विद्यार्थियों को उपलब्ध करवा सकता है। इस तरह विद्यालय या संस्था के धन की भी बचत होती है। उपर्युक्त विधियों के अतिरिक्त समय-समय पर विद्यार्थियों को संगीत सम्मेलनों में या सांस्कृतिक केन्द्रों में ले जाकर संगीत के स्वर व सांगीतिक वातावरण अथवा संस्कृति के संरक्षण में संगीत के विभिन्न प्रयोगों से भी अवगत कराया जा सकता है।

किसी भी सुन्दर वस्तु या कृति की दृढ़ता और स्थायित्व उस की अच्छी नींव पर निर्भर होती है। उसी प्रकार शिशु काल में अनुकूल वातावरण व

Scanned with CamScanner

शिक्षा द्वारा मौलिक वृत्तियों का विकास होता है तथा उनमें परिपक्वता आ जाती है। अतः शिक्षक के लिए जहाँ एक ओर सम्पूर्ण सत्यनिष्ठ व्यक्तित्व से सम्पन्न होना चाहिए वहाँ बाल सुलभ चेष्टाओं का मनोवैज्ञानिक रूप से अनुभव करना भी आवश्यक है तभी वह अनुकूल शिक्षण प्रक्रिया का प्रयोग अन्वेषणात्मक दृष्टिकोण से करने में सफल सिद्ध हो सकता है।

सारांश रूप से कहा जा सकता है कि शिक्षक के लिए शिक्षण कार्य के समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वह उचित शैक्षणिक प्रविधियों का प्रयोग इस प्रकार करें कि संगीत विषय में बालक रुचि ले सके व उसके माधुर्य, सौन्दर्य व रसनिष्पति की प्रक्रिया से पूर्णतः अपने आप को जोड़ सके। संगीत उनके लिए विषय न बनता जाये तथा सांगीतिक क्रियात्मक प्रक्रियाओं की शुद्धता को ग्रहण करते हुए शास्त्रोक्त दोषों से बच सके। सांगीतिक ध्वनियों की तारता व सामंजस्यता से एकाकारता का अनुभव करें। साधना की प्रवृत्ति का विकास होने से उनमें सांगीतिक प्रयोगों को क्रियान्वित करने की क्षमता आ सके। इसलिए शिक्षक द्वारा उचित शैक्षणिक प्रविधियों का प्रयोग किया जाना अत्यन्त आवश्यक है। आज संगीत की शिक्षा अनेक प्रकार की सोचनीय अवस्थाओं के बीच अवरूद्ध है क्योंकि विद्यार्थी, शिक्षक तथा पाठ्यक्रमों के शैक्षणिक स्तर, महत्व तथा औचित्य संदिग्ध अवस्था में है, फलस्वरूप शिक्षण-शिक्षा-परीक्षा इन तीनों में उचित सामजस्य न होने के कारण शैक्षणिक मूल्य व आदर्श भी प्रभावित हो रहे है।

सामान्य रूप से शैक्षणिक प्रक्रिया में अब भी परम्परागत रूप से प्रचलित मौखिक प्रक्रिया ही प्रमुख है, परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि इसके अतिरिक्त भी संगीत को विस्तृत दृष्टिकोण से देखा परखा जाए तथा उसके वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक, अध्यात्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा सौन्दर्यशास्त्र पक्षों को ध्यान में रखकर शैक्षणिक प्रक्रिया का निर्धारण किया जाना चाहिए।

Scanned with CamScanner

The Role of Nature and its Music in Markandaya's Nectar in a Sieve

Dr. Hemant Kumar Thakur

Nectar in a Sieve, the first novel of Kamala Markandaya, Published in 1955, reveals the hardships and complexities which humans may come across in this world. The implication of the title of the novel suggests that even an exceptional thing like 'Nectar' becomes worthless on the physical plane. The novel depicts what role Nature can play in the life of humans. Nature is so mighty that man's power has no importance before moreover Nature, apart from its destrutive power has its own Music which may be pleasant or unpleasant. William words worth, a great romantic poet, is the lover of Nature. For him Nature is our guide, guardian, teacher and philosopher. One can learn the lessons of music and dance from the twittering of birds and flowing waters of rivers. Nectar in the novel suggests that it is quite impossible to be found on the earth. At the same time, a sieve can't contain any thing that is liquid. Taken from S.T. Coleridge's famous line.

"Work without Hope brings nectar in a sieve", the title reflects man's hopelessness in a world where hopeless farmers have to depend upon Nature even for the result of their tireless toil.

The novel, Nectar in a sieve unfolds the story of a couple who struggles hard to keep the family oven burring despite certain odds. Based on the there of hunger and deprivation, the novel dipicts the socio-cultural aspects. It describes the pitiable economic condition of the people whose fate depends on the benign or the malign moods of Nature. H.M. Williams finds Markandaya close to Thomas Hardy. He finds Markandaya's characters sharing the same fate as Hardy's and says.

"The most memorable heroes of her novels are victions of fate, victions of their own characters of the follies and, malice of others."(1)Nectar in a Sieve exemplifies the tragic tale of humans who are at the receiving end of Nature, God and Civilization. The novelist describes the travails of Rukmani in particular and the peasant class in general. Rukmani is overjoyed with Nature's response and she feels the pulse beat, the blood, unbidden came hot, (2) and surged her face. The initial response of Nature ennobles her spirits and the natural urge to see this reproductive activity encourages her to plant more seeds.

The narrator heroine herself says: "After that, ten times more zealous, I planted, I planted beans and sweet potatoes, brinjals and chillies, and they all grew well under my land so that we

Asstt. prof(Guest) Dept. of English V.S.J. College, Rajnagar, Madhubani

Scanned with CamScanner

ate even better than we had done before."(3)

The innate capability of man to live in communion with Nature has been a part of civilization. But man's growing ambition, his cross commercial attitude and the craze to orient life materialistcally has often created a chasm between man and Nature.

Nathan and Rukmani, The happy couple gets the first jolt of despair when they come to know about the building of tannery in the village. Rukmani is scared of disturbance that the arrival of tannery will cause for both human and Nature. She tells Kunthl:

"It will not gladden me. Already my children hold their noses when they go by and crowds wherever you go. Even the birds have forgotten to sing.

Or else their calls lost to us."(4)

Time becomes tough for Nathan and Rukmani. All good time suddenly turns bad because of the uncertainties of Nature. Markandaya rightly describes how a slight lapse on the part of human can force Nature to show its ire:-

"Nature is like a wild animal that you have trained to work for you. So long as you are vigilant and walk warily with thought and care so long will it give you its aid, but look away for an instant, be headless or forgetful, and it has you by the throat.(5)

Natural calamities that had shown its ugly face with the arrival of tannery aggravated the condition of the village. The monsoon came unpredicted and the incressant rains brought disaster to mankind. Everything was destroyed and all around the uprooted trees and mud house with sticks and stones lay. The food was in scarce and even the village shopkeeper didn't have enough rice to sell. Besides, the drought like situation makes the life of Nathom and Rukmani miserable. The fields develop cracks and the rains are, a distant possibility. while nature had been unfavirable, the landlord too became unkind and sent his men to collect rent. situation went from bad to worse and there was a starvation like condition. Nature's ire to humans makes Nathan and Rukmani face alll hardships which they could never imagine. While the father feels powerless enough to feed his children, the children exploit all means to help their parents in need. Nathan and Rukmani were shocked to see their son Raja killed on the charge of stealing a calf-skin. Nature seems to test people's patience and after certain aberrations from time to time people with her bounties. Nathan and Rukmani face the odds and yet remain optimistic. They consider Nature as their friends, Philospher and guide. Here it is relevant to mention that william words worth, a great romantic poet, was the lover of nature. He was supposed to be a priest in the temple of Nature for him, Nature is a good guide, guardian and a teacher. One can learn the lessons of music from Nature. When the Wind blows, water flows in rivers, birds twitter on the trees and other creatures sing, they altogether create a nice musical environment which is very pleasant for the humans.

When the cycle changes, we find new hopes of expectations and fulfiment seeking its ways in their loves. The couple's expectation rereives a severe jolt when their land is sold to the tannery owners.

Nothing could be as fatal as depriving a farmer of his land. Rukmani who always feared such thing to happen becomes quite realistic and doesn't blame the

Scanned with CamScanner

tannery but the power of money. Though she becomes thoughless yet she pities many others like her. The Novel also exhibits how industrilization most often test parents the followers of the old traditional values want to keep themselves close to their children drawn to the changes. Ejected from their house. Nathan and Rukmani want to go to the city but selvam and Ira want to stay back. The parents feel their self hurt because of the land whereas the children want to continue because of their new found avenues.

Rukmani and Nathan leave the village and start for the city to seek shelter with murugan. But finding the situation unadjustable, they take to stone breaking in a quarry only in the hope that they could arrange for their journey to their village. They witnessed the cruel face of their fate yet they struggled every moment to live on their own. Nathan makes every attempt to come out of the crisis though his ill health doesn't support. While Nathan dies in Rukmani's presence the desire to return to his village and to his land remains with him.

The novel Nectar in a Sieve shows the rural people cornered by Nature and its vagrant moods. While Nature test the people's patientce and determination. Its magical spell takes them in such a grip that they can neither remain glued to it nor distance themselves away. Uma appears quite remarkable.

Nectar in sieve is the story of the faceless peasant who stands silhouetted in the unending twilight of Indian agrarian Bank ruptcy, the horizon showing through the silent trees now with crimson gashes, Now with crimson gashes, now with soul-exalting splendour, always holding out the promise that the setting sun will rise again after the night, the night never approaching yet never encompassing.(6)

Rukmani displays her practical wisdom through her action and becomes a burning example of faith, honesty, humanity, and tolerance. She is an apostle of the ever-continuing tenderness whose receivers are many. Dr. Kenny too is impressed with her sensitivity and he holds her in respect. Though Rukmani listens to the doctor's noble ideas. She tells him straight: Our ways are not your ways.(7) she sympathises with her man Rukmani's caring for her fellow human beings and the elements of nurturance make her look like Nature though her moods are not as vagrant as Nature's. Though the novel hinges on the tragic tale of most of the characters, Rukmani emerges as the one who sceffers yet continues to keep her faith intact she has deep reverence for Nature, for customs and for continuing family life.

Rukmani believes in action, No doubt, yet she does not approve of rebelling with nature. She is every inch a traditionalist who understands the inmportance of socio-cultural values. There are Various incidents in the novel which support Rukmani's reverence for Nature. At times, Nature provides its music which is very pleasant and soothing and also reveals man's limitations before the mighty Nature. Man's dependence on Nature and its mood swings affect them badly yet their longing for Nature doesn't diminish. As humans, we have to realize the cyclic change of Nature may appear unfavourable some times, yet it does not affect only individuals. Nor does it wreak its retribution on them. Thus, we find that Nature and its music either pleasant or unpleasans play vital role in the progress of socio-cultural aspect of humans.

Scanned with CamScanner

Works Cited:

1. Williams, H.M. Victims and Virgins: Some Characters in Markandaya's Novels." Vimal Prakashan p.-23
2. Ibid. p.-09
3. Ibid. p.-09
4. Ibid, p.-29
5. Markandaya, Kamala, Nectar in a Sieve, Bombay Jaico Publishing House, 1955, p.-39
6. Ibid, p.-34-35

Scanned with CamScanner